दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से

सूरदास और तुलसीदास के काव्य

का

तुलनात्मक अध्ययन

प्रयाग विश्वविद्यालय

की

डॉक्टर ऑव फिलॉसफी

की उपाधि के लिये

पूज्य आचार्या डा० आशा गुप्त के सुयोग्य निर्देशन

में

रोम हर्षन

द्वारा

प्रस्तुत, शोध प्रबन्ध

प्रयाग

नवम्बर, १९९२

पूजनीया

ममतामयी, शक्तिस्वरूपा

दादी माँ श्रीमती राधारानी गुप्ता

को सादर समर्पित ।

दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से सूरदास और तुलसीदास के काव्य का तुलनात्मक अध्ययन

विषय - सूची

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

उपक्रम :-

पूर्व-मध्य काल में दार्शनिक विचारों का विशेष महत्व रहा है वर्तमान समय में आधुनिक कालीन साहित्य पर विशेष शोध कार्य हो रहा है परन्तु भक्ति काल जिसे "स्वर्ण युग" के नाम से भी जाना जाता है के प्रमुख कवि सूर और तुलसी जिनके काव्य में दर्शन की बैचारिक महत्ता के फलस्वरूप उन्हे "सूर सूर तुलसी शशी" की उपाधि मिली और वे युग प्रणेता के रूप में उभरे, के दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय शोध हेतु अपनाया गया हैं।

मध्य युगीन भक्ति साहित्य की सगुण भक्ति धारा के दो मुख्य क्षितिज "सूर और तुलसी" जिनके व्यक्तित्व व कृतित्व (स्पोच) सदैव से भावप्रवण हृदयों को आकर्षित करते रहे हैं। मूलतः और अन्ततः दोनों ही समर्पित भक्त है एक ने "कृष्ण" के माधुर्य अनुराग के समक्ष अपने भक्ति भावों को उड़ेला दूसरे ने मर्यादा पुरूषोत्तम "राम" के अनूठे वैराग्यके प्रति । इनकी भक्ति प्रत्यक्ष ही स्वतः स्फूर्त प्रतीत होती है। किन्तु परोक्षतः उसके पीछे "दर्शन" की एक सुदृढ़ व स्पष्ट पृष्ठभूमि है जो इन्हे परम्परा व परिवेश से प्राप्त हुयी थी यू तो "सूर सूर तुलसी शशी" का अनेक कोणीय तुलनात्मक अध्ययन सहज-सम्भाव्य है। किन्तु दार्शनि विचार धारा की दृष्टि से इनका तुलनात्म अध्ययन न केवल इनकी भाव प्रवणता व भाव तीव्रता को भी उद्घाटित करेगी बल्कि उनके परम्परा बोध व प्रयोग बोध के साथ भक्ति की गहराई (गम्भीरता) का भी आकलन करने में सहायक होगी

इन्ही विचारों से अभिप्रेरित होकर प्रस्तुत प्रबंध को लिखा गया हैं घर के धार्मिक परिवेश से उद्धृत (उद्भूत) सात्विक संस्कारों, शुद्ध आचरणों व विकसित वैज्ञानिक तार्किकता ने इस प्रेरणा को और बल प्रदान किया जो नवनीत स्वरूप प्रबंध के रूप में रचित है।

दर्शन एक ऐसा विषय है जिस पर सभ्यता के प्रारम्भिक काल से चिन्तन होता आ रहा है। प्रत्येक युग के मनीषियों ने इस चिरन्तन विषय पर अपने मौलिक विचारों को अभिव्यक्त किया है। भक्ति-काल में सूर एवं तुलसी ने अपने काव्य में उतार कर उसे और भी प्रखरित कर दिया। भक्ति दर्शन के उभय पक्षों (सगुण-निर्गुण) को दोनो कवियों ने विस्तृत एवं वैविध्य पूर्ण ढंग से विभिन्न क्षेत्रो, धर्मों एवं परिस्थितियों के अन्तर्गत भक्ति के अपरिमेय एवं अमूल्य साहित्य को दीर्घ कालिक रूप में अपनी अनूठी काव्य प्रतिभा द्वारा हिन्दी साहित्य में उतारा। फलस्वरूप अने भाषाओं, बोलियों तथा अनेक प्रकार की शैलियों में भक्ति दर्शन का सृजन हुआ। इस असीम भक्ति के विस्तृत क्षेत्र में सूर और तुलसी का दर्शन हिन्दी भक्ति साहित्य में अपनी महत्वपूर्ण गरिमा के साथ अजेय सत्ता रखता है।

मध्य युगीन भक्ति साहित्य में सूर और तुलसी के दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन" ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है। हिन्दी भक्ति साहित्य की आध्यात्मिकता, दार्शनिकता एवं काव्य सौष्ठव की समृद्धिता के दृष्टि कोण से ही मध्य युग को भक्ति काल एवं स्वर्णयुग के नाम से भी अभिहित किया जाता है। भक्ति युगीन साहित्य को विस्तृत दार्शनिक सीमा के अन्तर्गत जो साहित्य ब्रह्म के अस्तित्व एवं वैचारिक तार्किकता के प्रति प्रगाढ भावना से प्रेरित होकर सूर और तुलसी के काव्य में स्वतः स्फूर्त हो पड़ा है। जिनके काव्यों के दर्शन का तुलनात्म अध्ययन ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विवेच्य विषय निर्धारित किया गया है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्ही की रचनाओं (कृतियों) को अध्ययनहेतु ग्रहण किया गया है।

जिसमें कवियों का हृदय भक्ति - दर्शन के प्रति अतलश्रद्धा से अभिभूत है उनकी कृतियां इन्ही भावनाओं को प्रेरणाभूत अभिव्यक्ति हैं। भक्ति साहित्यिक दर्शनों की उभय पक्षीय शाखाओं में भक्ति दर्शन के सृजन की पृष्टि भूमि में सगुण एवं साकार ब्रह्म(ईष्ट) के प्रति दृढ आस्था ही लाक्षित होती है उसमें उनकी उपप्रमुख शाखाओं में राम भक्ति एवं कृष्ण भक्ति के काव्य का स्फूर्ति स्त्रोत, निश्चित रूप से ब्रह्म के स्वरूप के प्रति अनन्य विश्वास एवं समर्पण को व्यक्त करते हैं। प्रत्यक्ष रूप से सगुण भक्ति धारान्तर्गत राम, कृष्ण रूपी इष्ट (ब्रह्म) के प्रति दृढ आस्था का पार्थैक्य दृष्टिगोचर होता है। दोनो कवियों के विचारों में ब्रह्म के व्यापकत्व पर विश्वास है। अत संकीर्णता के स्थान पर उदारता होने के फलस्वरूप भी अनेक स्थलों पर भाव साम्य है।

अलौकिक दृष्टि से राम और कृष्णके स्वरूप को हिन्दी भक्ति साहित्य का अध्येयेता, हृदयक संवेद्य, परमानंद संवित की सत्यानुभूति के अभिकर्षण से स्नात हो निर्मलता एवं पवित्रता को अनुभूति करता है। साथ- ही साथ लौकिक दृष्टि से अश्ययनहेतु प्राणि मात्र से प्रेम करते हुये कर्तब्यों के प्रति निष्ठा की कल्याण प्रद भाव गरिमा ग्रहण करता है। एवं हिन्दी भक्ति साहित्य की उभय पक्षीय साखाओं द्वारा उपर्युक्त दोनो इष्टों के प्रति सुन्दर सामान्जस्य स्थापित करता है।

सूर और तुलसी के दार्शनिक विचार धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टि कोणों से किया जा सकता है प्रत्येक दृष्टि कोण से तुलनात्म अध्ययन स्वतंत्र शोध का विषय होने की पूर्ण सामर्थ्य रखता हैं। पुस्तुत प्रबन्ध जिसमें बह्म के सगुण स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन है जो कवियों की काव्य पतिभाओं का आकलन करने में भी सहायक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में तुलनात्मक अध्ययन की विचार धाराओं में भूमिका (जिसमें दार्शनिक विचारों की पृष्ठ भूमि) सूरदासजी का दार्शनिक विवेचन, तुलसीदासजी का दार्शनिक परिपेक्ष, दार्शनिक तत्वों की तुलना एवं उपसंहार को लिखा गया है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनावश्यक विस्तार को अपेक्षा संक्षिप्त विवेचन का निरन्तर प्रयास एवं प्रयत्न रहा है। मेरे अपने अनुभव से दर्शन एक ऐसा विषय है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना हस्त क्षेप कर उसे सही दिशा प्रदान करने में सहायक होता है। परिस्थितियों के निरन्तर संघर्ष के अनन्तर भी प्रस्तुत शोधकार्य अपनी सीमाओं के अन्तर्गत सम्पूर्णता प्राप्त कर सका यह मेरे विचार से ईश्वर अथवा सूर और तुलसी के शब्दों में ब्रह्म (इष्ट) से श्रेष्ठ गुरू की अनुकम्पा का ही परिणाम है।

प्रस्तुत शोध का विषय परम पूज्य आचार्या डा० आशागुप्त जी की विशेष कृपा एवं प्रेरणा के फलस्वरूप ग्रहण किया गया है। जिन्होने अपने सुयोग्य निर्देशन एवं समयानुसार उत्साह वर्धन कर प्रबन्ध को सशक्त नींव निर्माण करने में अत्यन्त उदारता के साथ अपना अमेल्य समय एवं सहयोग प्रदान करने की अनुकम्पा की पूज्य आचार्या डा० आशागुप्त जी के विद्वतापूर्ण निर्देशन में यह प्रबन्ध लिखने के लिये, तथा उनकी अनुपम वात्सल्य कृपा समन्वित सहयोग के प्रति मै अत्यन्त श्रद्धावत हूँ।

श्रद्धेय गुरूवर्य परमपूज्य आचार्य डा० पी०सी०गुप्तजी का संरक्षण व दार्शनिक दृष्टिकोण मुझे हमेशा नई स्फूर्ति संचारित कर लक्ष्य को अग्रसारित करने में सहायक रहा और उनका आचरण व मार्ग दर्शन मेरे प्रगति पथ का आदर्श बना उनके प्रति मै अपनी हार्दिक कृतज्ञता पकट करना चाहता हूँ।
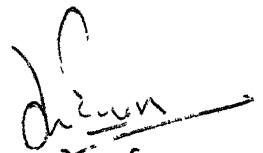
साथ ही साथ दैवीय शक्ति की प्रतिमूर्ति ममतामयी पूज्यनीया दादी माँ जिनकी ईश्वरके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति मेरे विषय के लिये प्रेरणा स्त्रोत रहीं उनके माधुर्य अनुराग, अभीष्ट कल्याण व स्नेहिल आकांक्षाओं के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

पूज्य पिताजी, कक्काजी; चाचाजी, एवं परिवार के सदस्यों इष्ट मित्रों (प्रकाश, शेष, अरूण, गोरख, केशरी, व सुरेन्द्र) के प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होने मुझे प्रबन्ध लिखने में मेरी मदद की। यशपालगुप्त व प्रशान्त गुप्त जी विशेष सराहना के पात्र है जिनके अद्भुत सहयोग से प्रस्तुत प्रबन्ध शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो सका।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्व-विद्यालय की सेन्ट्रल लाइब्रेरी व हिन्दी विभाग केपुस्तकालय द्वारा मुझे विशेष सुविधा प्राप्त हुई उनके अध्यक्षों के प्रति मै आभार प्रदर्शन, अपना कर्तव्य समझता हूँ। जिससे शोध कार्य लिखने में विशेष सहायता मिली।

विशेष प्रयत्नों एवं शीघ्रता की वजह से यदि टाइप आदि की अशुद्धियां रह गयी है तो मै क्षमा प्रार्थी हूँ।

नवम्बर 1992

रोमिहर्षन

प्रथम अध्याय

भूमिका- § भक्ति का उद्भव §

दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठ भूमि:-

भक्ति साहित्य का आधार भक्ति आंदोलन है, इस भक्ति का अपना "दर्शन" भी है। जो सुव्यवस्थित भक्ति को परंपरागत वैचारिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। भक्ति आंदोलन की विशेषता यह बताई गई है कि इसमें धर्म साधना का नहीं भावना का विषय बन गया है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति को धर्म का अनुभूतिपरक कहा है।[1] धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दी को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिये। इनकी रचनाओं की लोकप्रियता के कारण भक्ति काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाया।

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भक्ति काल से तात्पर्य उस काल से है जिसे मुख्यत: भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के फल स्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्र पात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक प्रचलित भाषाओं में भक्ति-भावनाओं की अभिव्यक्ति होतीं गई। कालातंर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की अधिकता हो गई। जिससे आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में क्रान्ति आ गई और इस भावना ने धार्मिक विचारधाराओं को भी प्रभावित किया। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय भी इस प्रवाह से प्रभावित हुये बिना न रह सके।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० रामचन्द्र शुक्ल-पृ०- 17

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में भक्ति मार्ग एवं इसके दर्शन का विशिष्ठ स्थान है । यद्यपि संहिता भाग के रचनाकाल तक उसके अस्तित्व का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे, प्राकृतिक घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना कर उसे प्रसन्न रखने के लिये यज्ञ आदि का विवेचन भी मिलता है ।

अनेक भक्ति के संत-कवियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से भक्ति धर्म पवित्र, आचरण और मानवीय आदर्श रूपकों का प्रचार किया जो भक्ति युग की सार्थकता कही जाती है । निराशा और असहायता के वातावरण में ईश्वर की आस्था के प्रति शांति और उत्साह की अनुमति के परिणाम स्वरूप भक्ति का उदय हुआ । विचारकों, संतो, भक्तों, महात्माओं कें ईश्वरीय ज्ञान की उपपत्ति के द्वारा भक्ति के दार्शनिक विचारों को उजागर कर इस माध्यम की विशिष्ठता का आभास अपनी काव्य रचना के द्वारा कराया जो आगे चल कई मतों कई वादों एवं कई प्रकार के संम्प्रदायों में बँट कर पल्लवित एवं प्रफुल्लित हुआ । यही इस युग की विशेषता थी जो स्वर्ण काल की निधि बनी । और समाज के लिये शांति प्राप्ति का आधार ।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्ति आंदोलन भारतीय चिन्तन-धारा का स्वाभाविक विकास है ।[1] नाथ-सिद्धों की साधना, अवतारवाद लीलावाद और जातिगत कठोरता, दक्षिण-भारत से आई हुयी धारा में घुल मिल गई । यह आंदोलन और साहित्य लोकोन्मुखता एवं मानवीय करूणा के महान आदर्श से युक्त हैं ।

---

1. कबीर-डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०- 17

भक्ति का उदय मध्यकाल से पहले हो चुका था और उसका एक विशेष दार्शनिक आधार था । हिन्दी साहित्य में भक्ति का उदय यहाँ के प्राचीन दर्शन के आधार पर हुआ । पहले यहाँ वैदिक कर्मकाण्ड का बोल बाला था । फिर जैन और बौद्ध मत ने वेद शास्त्रों के बताये सिद्धान्तों के स्थान पर संयम अहिंसा और त्याग पर बल दिया ।

विनय अथवा प्रार्थना भी उनके जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी । उनका ध्यान मुख्यत: ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित था और वे अन्त:करण की साधना की अपेक्षा वाह्य बिधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे । फिर भी शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था जिसके कारण उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड श्रद्धा से अनुप्रभावित रहते थे । श्रद्धा विहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था । इसी से श्रद्धा मूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चरक बहुदेव वाद भी एकदेव वाद में परिणित हो गया । फलस्वरूप बहुदेवों की परिकल्पना सिमट कर धीरे-धीरे एक में ही समाहित होने लगी । और कहा जाने लगा कि विद्वान लोग उसी {सत} को इन्द्र, मित्र, वरूण या अग्नि आदि नामो से पुकारते हैं ।[1]

इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्म-तत्व की प्रतिष्ठा हुयी और प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा जिसकी परिणिति अवतार वाद के रूप में हुयी । कोमल वृत्तियों के प्रभाव से भक्ति-साधना की विधियों में श्रमण-संस्कृति की प्रवृत्ति का उद्भव हुआ ।

---

1. ऋगुवेद- 1/164/43/5/3/1-2 .

कुछ समय बाद इस प्रकार के वादों का ह्रास होने लगा, नास्तिकता का प्रभाव बढ़ा तथा ‡ बौद्ध भिक्षुओं में गिरावट आ गई ‡ अनेक बुराइयों ने जन्म लिया, अनीश्वर वादिता का प्रचार होने लगा । समाज धार्मिक एवं अध्यात्मिक प्रभाव से हटने लगा ।

"आस्तिक एवं नास्तिक" परस्पर दो विरोधी शाखाओं ने जन्म लिया इनके गूढ़ अर्थों को आध्यात्म और विवेचन की आवश्यकता हुयी जो कि दर्शन के रूप में उदभासित हुआ एवं भक्ति में दर्शन या दर्शन के द्वारा भक्ति का निरूपण माना जाने लगा ।

दार्शनिक विवेचनों के लिये तर्क-विर्तक की आवश्यकता हुयी जिसके परिणाम स्वरूप "ब्राम्हण," "आरण्यक" तथा "उपनिषद" नामक भागो की रचना हुई । जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय सम्भवतः इसी अवधि में हुआ । कर्मफल तथा जन्मान्तर वाद की कल्पना के आधार पर कर्म-बन्धन से जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे, कर्म जाल से पृथक रहकर परमात्म चिन्तन में तल्लीन रहने के लिये तपादि की व्याख्या की गई । वैदिक उपासना ध्यान योग के रूप में परिणित हो चली जिससे श्रद्धा-भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया ।

मोनियर विलियम्स के अनुसार भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति "भज" से की जा सकती है इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति भावना आर्यों की दार्शनिक एवं अध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना जैसे व्यापक भाव में परिणित हुआ ।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास- डॉ० नगेन्द्र, पृ०-104

"भक्ति" शब्द का सर्व प्रथम उल्लेख श्वेताश्वर उपनिषद §6/33§ में मिलता है ।

वैदिक भक्ति-परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृति गर्भित पृथक भक्ति परम्परा का सूत्रपात हो चुका था । यह परम्परा ईसा-पूर्व से कई शताब्दियों से चली आ रही थी । जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पायी जाती थी । जो कालान्तर में दक्षिणात्य आलवार द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय हो गयी ।

सामाजिक एवं ऐतिहासिक अव्यवस्थाओं के काल अवर्णों आदि को सामाजिक दृष्टि से ऊपर उठाने के लिये नया मार्ग ढूँढने की ओर प्रवृत्त किया गया । यह किसी सुसंगत विचारों के द्वारा ही संभव था । जिसको संगठित कर दार्शनिकता का स्वरूप प्रदान कर भक्ति के रूप में प्रवाहित हुआ, जिसके दर्शन के दो तत्व हैं-- §1§ तत्वबोध और §2§ उसी के द्वारा उत्पन्न अनुकूल साधना मार्ग जिसे जीवन दर्शन कहते हैं ।

इसके अन्तर्गत अध्यात्म, चिंतन, पूजन एवं ध्यान आदि का समावेश होता है । "पूजा" भक्ति का मुख्य साधन माना गया है । जिसे "शिव" की भाँति तमिल शब्द ठहराया गया है । "मायोन" तथा "तिरूमाल" को भी विष्णु का पर्याय बताया गया है । स्वयं भागवत को भी कन्नड़ में रचित ठहराया गया है । यह ग्रंथ मध्यकालीन भक्ति परम्परा का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बना ।[1]

---

1. डॉ0 मलिक मुहम्मद के ग्रन्थ से.

विवेचना :-

दर्शन भक्ति का अनुभूति तत्व है । इसके गूढ़ में वैचारिक एवं अध्यात्मिक भावो की मौलिकता है । दर्शन शब्द के मूल में दृश् धातु-दृश+ल्युट्= दर्शन अर्थात दृश्यते अनेन इति ।

जिसमें देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं । भौतिक जगत को तो चर्म चक्षुओ से देखा जा सकता है इसी लिये आँख भी दर्शन है । लेकिन कुछ ऐसी भी निराकार और अतिसूक्ष्म वस्तुयें हैं जिन्हें तात्त्विक बुद्धि की आँखों से ही देखा जा सकता है । उस तात्त्विक दृष्टि को दर्शन कहते हैं । तात्त्विक दृष्टि ने जिसे देखा है जिसक विधि से देखा है वह सभी कुछ दर्शन में समाविष्ट हो जाता है ।

भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य फिलासफी दर्शन में मूलत: तात्त्विक अन्तर है । फिलासफी शब्द पूर्णत: "दर्शन" शब्द के समानान्तर नहीं है । भारतीय ऋषि मुनियों ने उस परम चेतन महा सत्ता के दर्शन आत्मा के नेत्रों से किये थे अर्थात् उन्होंने आत्मा से परमात्मा की अनुभूति की थी । जबकि पाश्चात्य फिलासफी लेखकों ने बुद्धि से उस महा चेतन शक्ति को जानने का प्रयास किया है ।

सूक्ष्मता, सूक्ष्मतमता की दृष्टि से मन से उच्च बुद्धि, बुद्धि से उच्च आत्मा है । आत्मा के द्वारा ही परमात्मा को ठीक तरह से जाना जा सकता है । जो बुद्धि से परमात्मा को जानतें है उनकी तो यह भूल ही मानी जायेगी । अनुभूति सिफ आत्मिक एवं अहलादित होती है ।

बृहदारण्यक उपनिषद में एक कथा आती है । जिसमें जनक के यज्ञ के अवसर पर याज्ञलव्य और गार्गी का प्रश्नोत्परक संवाद वर्णित है । गार्गी याज्ञलव्य से प्रश्न करती है । और याज्ञलव्य उत्तर देते गये । गार्गी ने पूछा, कि पृथ्वी किससे आवृत है? "उत्तर मिला "जल से" । जल किससे आवृत है? "वायु से;" वायु किससे आवृत है? "आकाश से" गार्गी प्रश्न करने ही वाली थी कि आकाश किससे आवृत है? याज्ञलव्य ने रोक दिया क्योंकि उसका उत्तर बुद्धि का विषय न होकर आत्मानुभूति का था । ब्रह्म आत्मानुभूति का विषय है ।

ब्रह्म ज्ञान के सर्व प्रधान ज्ञाता माने जाते हैं । याज्ञलव्य का ब्रह्म ज्ञान आत्मानुभूति के आधार पर था । गार्गी उस ज्ञान को ब्रह्म को, बुद्धि के द्वारा जानना चाहती थी । ब्रह्म परम सूक्ष्म औरव्यापक है । उसके विषय में ऋषियों ने निषेधात्मक वाणी में कहा है। विधेयात्मक वाणी में नहीं । हमारे ऋषि मुनि जैसे-जैसे उस परम चेतना की महासत्ता की सूक्ष्मता और व्यापकता की अनुभूति करते गये वैसे-वैसे उसके विषय में कहते गये ।

विषय की गूढ़ता और व्यापकता का विकास भक्ति की परम्परा में उपासना और आराधना के साथ-साथ लीलाबाद के रूप में अभिलाक्षित हुयी जो कि अनुभावनुभूति के द्वारा दृष्टि स्वरूप के रूप में उत्पन्न हुयी जिसको साकार परिवेश में भी पाया गया ।

उस महासत्ता की सूक्ष्मता एवं व्यापकता के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद और वेदान्त सूत्र में पृथक-पृथक बातें कही गई हैं । उससे हमारे ऋषियों मुनियों की अध्यात्म यात्रा का पता चलता है । छान्दोग्य उपनिषद (1/11/4) में प्राण का अर्थ ब्रह्म है, वेदान्त सूत्र (1/1/22) में आकाश का अर्थ ब्रह्म है ।

याज्ञवल्क्य गार्गी संवाद से व्यंजित होता है कि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में ब्रह्म, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है । वह आकश को भी आवृत किये हुये है ।

उस महानतम्, सक्ष्म एवं सूक्ष्मतम् और व्यापकतम सर्व व्यापक सत्ता को आत्म ज्ञान से ही समझा जा सकता था । आत्म ज्ञान के लिये अन्तःकरण की शुद्धि परमावश्यक थी । वह शुद्धि कर्म से ही सम्भव है । इसलिये वैदिक साहित्य में ज्ञान काण्ड (अध्यात्मिक चिंतन) और कर्म काण्ड (उपासना, विधि कर्म) की दो धारायें प्रवाहित हुयी ।

वैदिक अध्यात्मिक चिंतन धारा में ऋषियों ने उस व्यापक निराकार महासत्ता को व्यक्त करने के लिये अर्थात् रूपकों का सहारा लिया । फलस्वरूप पुरूष की रचना हुयी । भारतीय साहित्य में ऋगुवेद का पुरूष सूत्र सर्व प्रथम उदाहरण है । जिसके द्वारा ब्रह्म को पुरूषाकार में बताया गया है । यही भावना और कल्पना व्यक्त होते-होते पुराणों में मत्स्यावतार कच्छपावतार, बराहवातार, नरसिंहावतार, और फिर नरावतार तक पहुँची ।

इसी परम्परा शैली का विस्तारण अनेक भारतीय भाषाओं के कवियों ने अपनी काव्य शैली में करके भक्ति मार्ग को परिपुष्ट किया ।

भारतीय षट् दर्शनाचार्यों ने तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिये जो सिद्धान्त अपनाये दर्शन कहलाया । सांख्य योग मीमांसा, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त नाम से छः दर्शन प्रसिद्ध और उपलब्ध है, जिन्हे आस्तिक दर्शन कहते हैं । चार्वाक, जैन, बौद्ध नाम के तीन नास्तिक दर्शन है । बादरायण (व्यास) प्रतिति वेदान्त दर्शन, उत्तरमीमांसा दर्शन भी कहलाता है । इसमें ब्रह्म के स्वरूप पर विस्तार करते समय जगत और माया के स्वरूप को भी दिग्दर्शित किया गया है ।

वैदिक साहित्य की परम्परा में भी दो विभाजन हो गये है एक श्रुतिसाहित्य और दूसरा स्मृति साहित्य । श्रुति साहित्य का सम्बन्ध अध्यात्म से और स्मृति साहित्य का सामाजिक व्यवहार से था । श्रुतियों में धर्म की व्यापक व्याख्या है और स्मृतियों में नीति को परिचर्या ।

वैदिक उपासना काण्ड-अर्थात् कर्म काण्ड की विकास परम्परा में भक्ति भावना का जन्म हुआ । वैदिक ज्ञान काण्ड ज्ञानपरक चिन्तन के रूप में विकसित हुआ । भारतीय आस्तिक दर्शनों में अर्थात् सांख्य, योग, मीमांसा, §पूर्वमीमांसा§ वैशेषिक न्याय और वेदान्त §उत्तरमीमांसा§ नामक दर्शनों में वेदान्त की धारा अधिक वेग से विस्तार पूर्वक प्रवाहित हुयी है । ईसा की आठवीं सदी से 15वीं सदी तक वेदान्त दर्शन के कई सम्प्रदाय भारत में अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आ खड़े हुये हैं । उन आत्मपरक, अध्यात्मकारक संम्प्रदायों के प्रमुखत: दो ही सिद्धान्त थे । §1§ अद्वैत सिद्धान्त §2§ द्वैत सिद्धान्त इन्ही दोनों को आधार बनाकर आगे चलकर अनेक मत विकसित हुए ।

भक्ति को दार्शनिक भावना के सन्दर्भ में पांचरात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं है । इसका मुख्य उद्देश्य भक्ति-मार्ग के साधनों का निरूपण करना है । संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनके अराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन अर्चन की व्यवस्था दी थी । इससे अवतार बाद को प्रचुर प्रश्रय मिला । ईसाइ मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले ही अप्रमाणित हो चुकी है । इधर श्रमण-संस्कृति और साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध-सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं । जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न-भिन्न स्रोत समझा जा सकता है । फिर भी इसमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाये जिनके दर्शन एतद् विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं ।

बृहदारण्यकोपनिषद् ß 2/4/11ß के वेद गार्गी "एकायन"धर्म तथा "लोकायन" धर्म जैसी कुछ अन्य धर्म-साधनायें भी अवश्य रही होंगी जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे । फिर भी शैव, शक्त भागवत ßवैष्णवß सौर, गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाये जाते हैं । जिनमें ज्ञान, योग तन्त्र अथवा भक्ति की प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं । ज्ञान में तप और चिंतन मनन की प्रधानता थी और योग तन्त्र में क्रियात्मक विशेषतायें पाई जाती थीं । शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व-मध्य-काल में शैव धर्म भारत-व्यापी बन गया था जिसे राजाश्रय के साथ-साथ लोकाश्रय भी प्राप्त था । इसके प्रमाण शिला लेखों द्वारा भी प्राप्त हैं । योग का किसी समय इतना अधिक प्राबल्य था कि ज्ञान और भक्ति के साथ योग को जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा । भक्ति और ज्ञान में योग शब्द का कोई न कोई तत्व ढूँढ निकालना नहीं है । यहाँ तक कि बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि भी इससे अप्रभावित नहीं रह सके थे । भक्ति मुख्यत: भावना मूलक थी ।

प्राचीन शास्त्रों में ßउपनिषद, गीता, आदि ß में यह बताया गया है कि ब्रह्म एक है वही सत्य है सुन्दर है और आनन्द है । संसार माया जाल है । इस लिये यहाँ के सुख दुख कल्पित हैं भेद भाव झूठें हैं । उन्होंने बौद्ध प्रभाव हटा कर जनता को ईश्वर ßब्रह्मß की ओर प्रवृत्त किया और इसी के अनुसार विभिन्न धर्मों का उद्‌भव हुआ जैसे- वैष्णव, शैव, बौद्ध, पारसी, यहूदी, शाक्त श्रमण, इस्लाम, सूफी आदि । हिन्दू धर्म में वैष्णव और शैव तथा श्रमण को विशे महत्ता मिली ।

शैव के अन्तर्गत मध्यकाल में पाशुमत, वीर-शैव, लिंगायत और कश्मीर शैव सम्प्रदाय विख्यात थे । बाद में इनके उपसम्प्रदायों का गठन होने लगा । वैष्णव धर्मी स्वामी रामानन्द और उनके अनुयाईयों ने भी लोक प्रचलित भाषाओं का आश्रय लेकर प्रश्रय दिया ।

वैष्णव धर्म मूलत: भक्ति प्रधान है जो योग साधना का परिवर्ती होने के कारण उसमें यकिंचित प्रभावित कहला सकता है । पाँचरात्र के माध्य से तन्त्र साधनाके तत्व भी विभिन्न रूपों में सम्मलित है । इनके उपसम्प्रदाय के अनुयायी दार्शनिक विचारधाराओं की व्याख्या करने के कारण द्वैत, द्वैताद्वै विशिष्ठा द्वैत, भेदाभेद, शुद्धाद्वैत आदि की प्राप्ति हुयी । परन्तु दूसरी अ वैष्णव उपसम्प्रदायी जो कि दार्शनिक सिद्धान्तों पर उतना बल नहीं देते थे रामावत, सहजिया, बारकरी, महानुभाव, पंचसखा, आदि ऐसे ही उप सम् थे ।

श्रवण-धर्म के अन्तर्गत बौद्ध और जैन मतों की गणना लोक धर्मी होने के कारण निगुर्ण भक्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव के कारण, तपोनिष्ठ नैतिक आचार पद्धति और निर्वाण, शून्य तत्व माध्यम मार्ग आदि पर प्रभाव पड़ा

मन्त्रयान, बज्रयान, सहजयान और काल चक्रयान जैसे सम्प्रदाय इसी के परिणाम स्वरूप उभरे जो मूल तत्व को त्याग कर बाह्य विधानें से प्रभा थे ।

<u>भक्ति दर्शन के अध्यात्मिक विचार:-</u>

ब्रह्म तत्व का चिन्तन {चिंतन} करना मानव हृदय की एक अत्यन्त उच्च एवं उदात्त वृत्ति है । साथ ही इस अलौकिक सत्ता को स्वीकार करन तत्व विवेचक दृष्टि से एक महान गूढ़ एवं रहस्यात्मक प्रश्न है । ईश्वर को स्वीकार करना होगा, उसके पश्चात ही उसके अस्तित्व {सगुण} और निराक निगुणता पर विचार करने की समस्या आती है । इन दोनो को समझने के मूल रूप से इस तथ्य पर विश्वास करना होगा कि ब्रह्म {ईश्वर} की सत्ता अन्धदर्शन जो कि आत्मपरक है ।

यदि हम किसी परोक्ष सत्ता को निश्चित करें तो उसके परिवेश, रूप आकार आदि के विषय में किस प्रकार बोध किया जाय इसके लिये सत्ता शब्द की उपयोगिता पर विचारणीय प्रश्न उत्पन्न हुआ ।

इस प्रकार तर्क के आधार पर अनेक समस्यायें उपस्थित होतीं है यदि ब्रह्म जैसी कोई सत्ता है भी तो क्या उसकी अनुभूति पूर्ण रूप से संभव है? मनुष्य की इन्द्रियाँ इतनी कुठिंत और अपर्याप्त है कि वे अपनी विषय गत सीमा में ब्रह्म का अनुभव कर भी नहीं सकती । इन्द्रियाँ स्थूल हैं । स्थूल विषय ही उनका गन्तव्य है । जब कि ब्रह्म सूक्ष्म है । और सूक्ष्म की अनुभूति ही उसका बोध तत्व है ऐसी स्थिति में मनुष्य ब्रह्म को असत भी मान सकता है । इसी से निरीश्वर वाद की पुष्टि संभव हो जाती है । दूसरी स्थिति यह हो जाती है कि ब्रह्म की अनुभूति अंशतः ही हो, उसकी विराट सत्ता इतनी असीम हो कि वह सीमा बद्ध इन्द्रियों से पूर्णतः हृदयगंम न हो सके । ऐसी स्थिति में अंशतः अनुभूति की कल्पना के सहारे पूर्ण हो और कल्पित तत्व का विवेचन, विवेचक के दृष्टिकोण पर हो । ब्रह्म की वास्तविक सत्ता विवेचनाओं से परे है ।

तीसरी स्थिति में ब्रह्म की अनुभूति में उसकी अभिव्यजना में इन्द्रि सम्पूर्ण रूप से असमर्थ हो । इसीलिये संभवतः ब्रह्म को अगोचर कहा गया है ।

रहस्यवादी कबीर का हृदय गंगा बन कर ब्रह्मानंद के गुड़ का स्वा वर्णन कर सका है । "नश्वर स्वर" से अनश्वर के गीत किसी प्रकार गाये जा स हैं । वस्तुतः ब्रह्म तत्व की बिराट सत्ता की अनुभूति में अनेक कठिनाइयाँ ह सकती हैं । अतः इस कठिनाई के साथ-साथ इस प्रकृति में व्याप्त (अन्तर) ए उससे परे शक्ति प्रकृति परावर नाथ के सम्बन्ध में अनेकानेक प्रश्न सदैव ही उठ करते हैं और उस शक्ति की अनुभूति को शब्दों में प्रकट करना सम्भव है कि न स्थूल रूप से इस प्राकृतिक प्रारम्भिक समस्या के तीन पार्श्व दृष्टिगत होते हैं

§1§ तर्क पूर्ण प्रभाव न देने के कारण कोई ऐसी सत्ता ही न मानी जाय जैसा कि कपिल ने अपने सांख्य सूत्र में कहा है ।

प्रमाणाभावादनत सिद्धिः[1] । प्रमाण के आभाव में उसे सिद्ध नहीं कि जा सकता ।

§2§ यह कहा जाय कि ब्रह्म है, परन्तु उसका शब्दों में व्यक्त नहीं कि जा सकता इस सम्बन्ध में ऋषि भाव और वास्कलि की बहुश्रुति कथ का उद्धरण दिया जाता है । वास्कलि ने जब ऋषि भाव से पूछा कि ब्रह्म क्या है और कुछ भी न उत्तर पाने के कारण बार-बार पूछा तब भाव ने यही उत्तर दिया कि मैं बता तो रहा हूँ तुम समझ न रहे कि आत्मा मौन है ।[2] प्राचीन ग्रंथो में आत्मा शब्द का प्रयो बराबर परम शक्ति के लिये मिलता है ।

§3§ तीसरी बात जिससे प्रस्तुत विषय का सीधा सम्बन्ध है । वह यह कि ब्रह्म है यह निश्चित है । ऐसा नहीं है कि ब्रह्म नहीं है । शंक चार्य के सम्बन्ध में शब्दों में ऐसा कहा है-- न नास्ति ब्रह्म[3] किन्त मुख्य प्रश्न यह है कि उससे सम्बन्धित अनुभूति को किस प्रकार किन में अभिव्यक्त किया जाय । अभिव्यक्त का आधार नाम हो सकता अथवा प्रतीक रूप में कहा जा सकता है । इन्द्रियों पर जो ब्रह्मान ही उसका बोध कराने के प्रयास में ही ब्रह्म विचार की उद्भावना होगी । किसी भी एक स्थूल आकार व रूप से रहित वह परम शि

---

1. एफारिज्म ऑफ कपिल, पुस्तक-5, सूत्र-10
2. ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसफी, दास गुप्ता, पृ0-45
3. तैत्तिरीय उपनिषद, बल्ली-2, अनुवाक-6, शंकर भाष्य पृ0-157.

कण-कण में व्याप्त होते हुये भी सर्वोपरि है इसको आरम्भ में भारतीय मनीषाओं ने अनुभव किया और ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्[1] या ईशावास्यमिदं[2] सर्वं आदि शब्दों में प्रकट किया । निर्गुण और सगुण का वाद विवाद इस तीसरे पक्ष के साथ ही है । फिर भी निश्चयतात्मक रूप से यह कहना कि असंभव है कि निर्गुण और सगुण विचारधाराओं का उद्‌भव कहाँ, कैसे, और किन-किन शब्दों के माध्यम से हुआ । पूर्वोतिहासिक काल से भारतीय दर्शन की प्रखर व अटूट विचार श्रृंखला मिलती है । निर्गुण और सगुण का भक्ति के क्षेत्र में विकास बहुत बाद में हुआ होगा अन्यथा आरम्भ से ही ये दोनों शब्द "दर्शन" के अन्तर्गत विचारणीय समझे जाते रहे हैं ।

संहिता साहित्य:-

ऋगुवेद[3] में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक ही ईश्वर के अनेक नामों से कहा गया है-

"इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।[4]

अर्थात् वह (परमेश्वर) एक है तथापि उसे विप्रों ने इन्द्र मित्र, (सूर्य) वरूण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरूत्मान, यम, मातरिश्वा, (वायु) इस प्रकार बहुत नामों से कहा है । और वाजनेसय चिन्तक (वाजसनेय शाखा के अध्येता) भी ऐसा कहते हैं ।

---

1. ईशावास्योपनिषद शान्ति पाठ
2. ई0 " मंत्र-1
3. ऋगुवेद, (1/164/46)
4. वाजनेस उ0, 1/4/6

"तद् यद इदमाहुरभु" यजामु यजेत्येवैकं देवम्
एत स्यैव सा विसृष्ट रिस उ ध्यव सर्वे देवा:

जो कि एक-एक देवता के प्रति "इसे यजन करो" "इसे यजन करो" ऐसा कहा गया है । वह इस {परमेश्वर} की ही विसृष्टि है अर्थात् निर्माण है, उसके रूप में सब देवता हैं ।

इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूप में अवस्थित एक ही देवता { परमेश्वर } का आवाह्न किया जाता है ।[1]

इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में अवस्थिति एक ही देवता { परमेश्वर } का आवाह्न किया जाता है ।

संहिता साहित्य में ईश्वर की व्याख्या के सम्बन्ध में कीथ महोदय के अनुसार एक मंत्र से यह प्रकट होता है कि वैदिक ऋषि ने एक ही ईश्वर को इन्द्र, वरूण, मित्र, अग्नि, सूर्य, यम तथा मातरिश्वा आदि अनेक नामों से विभूषित किया गया है ।[2]

योग भाष्यकार ने एक श्रुति उद्धृत की है--प्रधानात्सपात्म स्व्यासनाथ प्रिवृत्तिरिति श्रुते[3] अर्थात् प्रधान आत्मा का व्याख्यान करना ही श्रुति की वृ है ।

---

1. हिन्दी ऋगुवेद भाष्य भूमिका, जगन्नाथ पाठक, पृ. -3
2. इट इज फ्रेंकली एस्पेक्टिड एज रिगार्डस द गाड्स इन वन वर्स दे काल इन्द्र, वरूण, मित्र, अग्नि, ऐण्ड द विन्गेड् वर्ड {दसन} द वन दे काल ब मौनी नेम्स अग्नि, यम, एण्ड मातिश्वान---रेलीजिन एण्ड फिलासफी वेद कीथ वाल्यूम-32 पृ0-435.
3. पात्जंलि योगसूत्र, भागीरथ मिश्र, "दो शब्द"

विशेष बात यह कि वैदिक संहिताओं में ईश्वर के लिये अनेक वाचक शब्द है । "आत्मा" के प्रयोग का सम्भवत: आधिक्य है । दूसरा प्रयुक्त वाच शब्द है पुरूष । विद्वानों का विश्वास है कि ब्रह्म सम्बन्धी संहितान्तर्गत श्रुति में निगुर्ण पुरूष का वर्णन करती है । वह अक्षरात्परत: पर: के रूप में कथित हु है । वह निगुर्ण पुरूष ऐश्वर्य से विमुक्त है उसे किसी भी विशेषण से विशेषित किया जा सकता है ।[1] यहाँ नकारात्मक वर्णन का रूप स्पष्ट है ।

पंचदशी के धनदीप प्रकरण में एक श्लोक है:-
प्रणवोपास्तथ: प्रायौ निर्गुण एव वेदगा: ।
क्वचित सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि।। §श्लोक-147§

इस कथन के अनुसार वेद में प्रणव की जितनी भी उपासनाएँ हैं वे प्राय: सबकी सब निर्गुण ही हैं । कहीं-कहीं सगुणोपासना का भी आभास मिलता है ।

वैदिक काल के आर्य इन्द्रियादि देवताओं एवं प्रजापति हिरण्यगर्भ की उपासना करते थे । जो कि स्पष्ट ही सगुण उपासना के अन्तर्गत आती है हिरण्यगर्भ देव ही काल क्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों नामों से त्रि में विभक्त हुये हैं । ब्रह्माण्ड में अधिपति प्रजापति हिरण्यगर्भ का एक अन्य ना अक्षर आत्मा है । वे ऐश्वर्य से सम्पन्न फलत: सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और सर्वव्याप है । हिरण्यगर्भ: समवर्त्तताग्डे मूलस्य जात: पतिरेक आसीत्[2] इत्यादि ऋचा में उन्ही की स्तुति हुयी है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास-प्रथमभाग-पृ0-43।.
2. पातंजलियोग सूत्र, डॉ0 भागीरथ मिश्र, दो शब्द.

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में ही ब्रह्म ज्ञान निगुर्ण व सगुण दोनों रूपों में था । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन नितान्त उपयुक्त ही कि श्रुतियों के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पड़ता है । कि ऋषियों के मस्तिष्क में ब्रह्म के दो स्वरूप थे--

§1§ एक गुण, विशेषण, आकार और उपाधि से परे निगुर्ण निराकार और निर्विशेष, निरूपाधि ।

§2§ दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण सविशेष, साकार और सोपाधि ।

उपर्युक्त कथनों को देखते हुये यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मज्ञान के साथ ही निगुर्ण और सगुण दोनों विशेषणों का उद्भव हुआ । फिर भी इस विषय में बराबर मतभेद रहा कि वेदों में ब्रह्म की व्याख्या किस प्रणाली से की गई है । कुछ विद्वान मानते है कि वेद बहुदेववाद को लेकर चले, कुछ अध्येता वेदों में सगुण उपासना ढूँढ निकालतें हैं । कुछ एक देववाद का सबसे बड़ा प्रमाण वेदों को ठहराते हैं । उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर पहला तथ्य जो सामने आता है वह यह कि वैदिक ऋचाओं के अन्तरर्गत मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता पर निश्चित रूप से विश्वास है ।

दूसरी बात यह कि वेदों में की गई स्तुतियाँ इस बात की घोतक है कि मनुष्य का उच्च शक्ति से कुछ सम्बन्ध है ऐसा सम्बन्ध है । जहाँ वह अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है । उस उच्च सत्ता के प्रति अपनी आस्था एवं आश्चर्य प्रकट कर सकता है । अपने आभावों की पूर्ति के लिये याचना कर सकता है । वेदा ही में की गई स्तुतियाँ इस बात का प्रमाण है कि उस समय के ऋषि को द्रष्टा को यह विश्वास था कि ईश्वर का अस्तित्व है मनुष्य की परिस्थिति का अस्तित्व है । तथा उसके चारों ओर विस्तृत प्रकृति का अस्तित्व ही पंजन्य,

विद्युत, प्रभंजन, सूर्य इत्यादि नैसर्गिक शक्तियों में देवताओं की कल्पना साधारण बुद्धिमत्ता के मनुष्य के लिये स्वाभावत: ही सोचने के योग्य है । इसलिये प्रारम्भ के अनेक नैसर्गिक देवताओं की कल्पना पाई जाती है परन्तु आगे चलकर जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का विकास होता गया वैसे-वैसे अनेक देवताओं में सर्वशक्तिमान एक देव या ईश्वर की कल्पना प्रस्तावित होती गई इस प्रकार प्राचीन काल के आर्यों ने अनेक देवता माने थे जैसे, इन्द्र, वरूण, सूर्य सोम आदि । परन्तु एक ईश्वर की कल्पना ऋगुवेद काल में हो चुकी थी । और उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया था कि अन्य सब देवता उसी के स्वरूप है ।

उपनिषद:-

उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण व निगुर्ण दोनों ही प्रकार के वर्णन पाये जाते है । श्वेताश्वेतरोपनिषद में ब्रह्म के लिये स्पष्ट रूप से निगुर्ण शब्दका प्रयोग किया गया है ।

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।[1]

यह आत्म तत्व सहज ही समझ में आ जाये ऐसा नहीं है ।

"न ऐष: सुविज्ञेयं:[2] । कारण यह है कि वह अत्यन्त सक्ष्म वस्तु से भी अधिक सूक्ष्म है । तर्क से प्रतीत है कि इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता है ।

---

1. श्वेताश्वेतरोपनिषद, 6, 11.
2. कठोपनिषद, अध्याय-1 बल्ली-2 श्लोक-8

गतिरत्र नास्ति अणीयान ह्यतवर्पमनुप्रमाणात्[1] किन्तु फिर भी भारतीय मनीषा ने उस ऐसे दुलर्भ आत्म ज्ञान के विषय में प्रवेश करने का प्रयत्न छोड़ा नहीं । नचिकेता यम सम्वाद में हमें अनेक ऐसे मंत्र मिलते है । जिसमें सच्ची अनुभूति के साथ-साथ ऐसे सूक्ष्म ब्रह्म के वर्णन है । उदाहरण स्वरूप इस प्रकार के कथन उपलब्ध होते है कि आत्म तत्व अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी सूक्ष्म है । वह सनातन है[2] । वह कठिनता से देखे जाने के योग्य है[3] । वह तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है ।[4] मनुष्य जब इस आत्म तत्व को जान लेता है । तब वह हर्ष, शोक से रहित हो जाता है ।[5] वह "महान्त-विभुमात्मानं" अस्थिर शरीर में शरीर रहित एवं अविचल भाव से स्थित है ।[6]

---

1. कठोपनिषद, अध्याय-1 बल्ली-2 श्लोक-8
2. नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्यु प्रोक्त सनातनम् । उकतवा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्म लोक महीयेते । वही,
3. ततं दुर्दर्श गुढ मनुप्रविष्ठं गुहाहिंत गहवरेष्ठम् पुराणम् । अध्यात्मयोगोधिममेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति॥12॥ वही, बल्ली=2
4. नेषा तर्केण मतिरापन या प्रोक्तान्येनेव सुज्ञानाय प्रेष्ठ यां त्वमाधः सत्यधृतिर्ष तासि त्वाहयनो यूयाना चिकेतः पृष्टा-॥9॥ वही, वही,
5. वही, श्लोक- 12
6. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थष्व व स्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो नशोचति, वही. वही. वही-॥22॥ ।

किन्तु वह ब्रह्म जहाँ जैसा है । यह ठीक-ठीक कौन जानता है ।[1] वह ब्रह्म शब्द रहित, स्पर्शरहित रूप रहित, रसरहित, गन्ध रहित, विनाश रहित नित्य, अनादि, अनन्त, सर्वथा सत्य है ।[2]

उपर्युक्त कथनों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों के वर्णन उपलब्ध होते हैं । परन्तु उपनिषदों का सुझाव निर्गुण ब्रह्म की ओर अधिक है ।

श्रीमद् भगवत गीता:-

गीता में ब्रह्म के निर्गुणत्व की अपेक्षा सगुणत्व का अधिक निश्चित प्रतिपादन मिलता है । वैसे तो गीता में अनेक विशेषण मिलतें हैं । जो निर्गुण सगुण दोनों की पुष्टि करते है । जैसे- कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अचिन्त्य रूपम्, आदित्यवर्णम्[3] आदि । अध्याय ।3, श्लोक 3। में ब्रह्म का एक विशेषण सीधे निर्गुण शब्द ।। ही है । ब्रह्म को अव्यक्त बताकर ब्रह्म को उस अव्यक्त से भी परे कहा गया है ।[4] वह अजम्, अव्ययम्, अनादिम्, अक्षरम, अविनश्वतम् है[5]

---

1. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्थस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥25॥ कठोपनिषद अध्याय-1 बल्ली-2 ॥
2. अशब्द मस्पर्शम रूपम व्ययं तथार सं नित्यमगन्ध वच्च यत् । अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं निचायय् तन्मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते । ॥15॥ वही• बल्ली-3
3. कवि पुराणमनु शासितारमणोरणीयम् यांमंम नुष्य स्मेरथः ।
   सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्य वर्ण तमसः परस्तात ॥4॥ श्रीमद् भग गीता, अध्याय-8
4. अनादित्वात्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः शरीस्थोऽपि कौन्तेय न करे न लिप्यते । ॥31॥ वही• अध्याय-13•
5. श्रीमद भागवत गीता, अध्याय-8 श्लोक-20

उपर्युक्त प्रकार के कथन ब्रह्म के निर्गुण रूप की परिभाषा के अन्तरर्गत आते हैं । लेकिन सर्वभूतानाम् सनातनम्[1] बीजम् या उदासीन बदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु[2] या सर्वस्य प्रभव:[3] । जैसे कथन उनके सगुण रूप के घोतक है । एक ओर कृष्ण यह कहते है- नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत:[4] तो दूसरी ओर प्रकृतिं स्वामिधिष्ठाय समवाभ्यात्म भायमां[5] भी कहते हैं ।

एक स्थल पर तो बिल्कुल ही सगुण स्वरूप की पुष्टि होती है । जब कृष्ण कहते हैं कि पत्रं पुष्पं फलम् तोयं यो में भक्त्या प्रयच्छति । तद्महं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:[7] ।

---

1. श्रीमद् भागवत गीता, अध्याय-2 श्लोक-21। अध्याय-10 श्लोक-3 अध्याय-8 श्लोक-3,11, अध्याय-13 श्लोक-26
2. बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् बुद्धि बुद्धिमतायरिम तेजस्वेजस्वि नामहम्, अध्याय-7, ।10।
3. न च माम् तानि कर्माणि निबध्नमिले धनजय । उदासीनव दासी नमसक्तं तेषु कर्मसु ।।9।। अध्याय-9
4. अहं सर्वस्थ प्रभवो मत: सर्व प्रवतिते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विता: ।।8।। वही॰ अध्याय-10
5. वही अध्याय-7 श्लोक-25॰
6. वही अध्याय-4 श्लोक-6
7. श्रीमद् भगवत गीता, अध्याय-9 श्लोक सं0-26॰

इस प्रकार गीता में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के साथ-साथ सगुण रूप को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट किया गया है । साथ ही गीता में ईश्वर के वर्णन कुछ इस प्रणाली से किये गये हैं कि अलौकिक सत्ता के एक विराट गरिमा पूर्ण व्यक्तित्व की भावना के प्रति अनायास विश्वास उत्पन्न हो जाता है ।

सांख्य सूत्र:-

सांख्य सूत्रों में ईश्वर के सगुण रूपों की चर्चा बिल्कुल नहीं है । प्रमाण के अभाव में कपिल ने ईश्वर को सत्ता को ही नहीं स्वीकार किया । प्रमाणा भावद् नतास्तित्सद्धि: ।[1]

कपिल की मुख्य बात यही थी कि प्रमाण के आभाव में ईश्वर को किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है । परवर्ती शास्त्र कारो ने इस निष्कर्ष को तर्क से काटा । शंकराचार्य ने कहा "अथ च ब्रह्मे" क्योंकि ऐसा आभास नहीं होता कि हमारा अस्तित्व नहीं है । भागवत कार ने कहा "सत्वं रजस्तम इति त्रिवृयक्रभादौ" और यह कि प्रमाण के न मिलने पर से यह न कहना चाहिये कि ब्रह्म है ही नहीं ।[2]

इस प्रकार कपिल को निराश्वर वादी मान लिया गया । उनके सिद्धान्तों में पुरूष सम्बन्धी कल्पना जगत्सृष्टि कर्ता परमेश्वर की कल्पना से भिन्न है । उनके मत से प्रकृति जड़ जगत है जो पुरूष के सान्निध्य से अपने स्वभाव से ही सृष्टि उत्पन्न करती है ।[3]

---

1. एफारिज्म ऑव कपिल पुस्तक- 5.10.
2. सत्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकभादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदंति जीवम् । ज्ञान क्रियार्थ फलरूपतयोरूशक्ति ब्रह्मैवभांति सदसच्च तयो: परं यत्।36
   श्रीमद् भगवत गीता एकादश स्कन्ध, अध्याय-3

परन्तु विशेष बात यह है कि कपिल ने आत्मा की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया । कपिल ने आत्मा को सर्वोपरि ठहराया और अन्त में आत्मा को निर्गुण विशेषण से विभूषित किया ।

योगसूत्र:-

पंतजलि के योग सूत्र में ईश्वर सम्बन्धी कुछ सूत्र है । एक सूत्र को ईश्वर की परिभाषा कहना अनुपयुक्त न होगा.- क्लेशक र्मविपाकाशयेरपरा भृष्ट: पुरूष विशेष ईश्वर: ।[1]

क्लेश वर्म विपाक और आशय से अपरामृष्टि (तात्पर्य अस्पष्ट व असंयुक्त से है) पुरूष विशेष ही ईश्वर है । आगे टीका कार और भी स्पष्ट करते हुये कहता है कि जिस पुरूष में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो चुकी है । वह भी ईश्वर है । जिनका ऐश्वर्य साम्पातिशून्य है । वे भी ईश्वर है । और वे ही पुरूष विशेष हैं । इस परिभाषा में वही प्रणाली अपनाई गई है कि ईश्वर में क्या नहीं है । योग सूत्र में ईश्वर की जो व्याख्या की गयी है । उससे उनके गुणों का वर्णन नहीं है । निष्कर्ष यह है कि योग सूत्रकार ने प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर को निगुर्ण मात्र है ।

पुराण:-

भागवत गीता में जिस सगुण ब्रह्म की संकेत किया गया था उसका विकास पुराणों में हुआ । भागवत पुराण का मध्ययुग के हिन्दी भक्तिकाव्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है । भागवतकार इस बात को मान कर चला है कि ब्रह्म के दो रूप हैं निर्गुण और सगुण । निर्गुण और गुणपति का अनेक स्थलों में स्तुति रूप में एक साथ प्रयोग है ।

---

1. पातंजल योग सूत्र - सूत्र, 10.

नमस्तुभ्यंमनन्ताय दुर्विक्यात्कर्मणि ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्वस्थाय च साम्प्रतम् ।50।[1]

एक स्थल पर भागवतकार ने इस प्रकार कहा है कि गुण मय प्रपंच में निर्गुण आत्मा सुशोभित है ।[2] एक अन्य श्लोक में इस प्रकार का कथन है कि वह अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों के नियमत्ता भगवान मनुष्य के कल्याण के लिये प्रकट होते हैं ।[3]

भागवत में श्री कृष्ण स्वयं अपने को दीपक की भाँति साक्षी स्वरूप कहते हैं ।[4] भगवान को तीनों गुणों का नाथ बताकर तीनों गुणों से परे बताया गया है ।[5] ईश्वर की लीला को दुर्गम[6] कहकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सगुण और निर्गुण रूप में अविरोध है ।[7]

---

1. श्रीमद भागवत गीता, अष्टम स्कंध, अध्याय-5
2. वही, दशम स्कन्ध, अध्याय-20, श्लोक-10
3. गुणार्नि: श्रेय सार्थाय व्यक्ति मभगवतो नृप:
   अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुस्य गणात्मन: ॥14॥
4. वही॰ अध्याय- 29
5. वही॰ अध्याय-60
6. वही॰ अध्याय-9
7. वही॰ श्लोक-34 सं0 36

ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस प्रकार का कथन है कि आप ही निर्गुण और निराकार है । और आप ही सगुण है आप ही साक्षी रूप हैं निर्लिप्त हैं । और परमात्मा है । प्रकृति और पुरूष के आप ही कारण हैं ।[1]

विष्णु पुराण में निर्गुण भक्ति को अगम और सगुण भक्ति को सुगम बताते हुये सगुण भक्ति का ही विधान बताया गया है । भगवान के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप है लेकिन योगाभ्यासीजन पहले पहल उस रूप का ॥अमूर्त॥ का चिंतन नहीं करते । अत: उन्हे श्री हरि के विश्वरूप का ही चिंतन करना चाहिये ।

न तभोगयुणा शक्यं नृप चिन्तयितुं यत: ।[2]
तत: स्थूलं हरे रूपं चिन्तये द्विश्वगोचरम् ।।॥1॥

स्पष्ट है कि पुराणों में अनेक प्रकार सगुण रूप पर बल दिया है ।

ब्रह्म के निरूपण सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्त:-

भक्ति भावना की ज्ञान परक शाखा के दर्शन सम्बन्धी प्रमुख दो मुख्य सिद्धान्त बताये गये हैं ।

॥1॥ अद्वैत सिद्धान्त ॥2॥ द्वैत सिद्धान्त

अद्वैत वादी सिद्धान्त के ॥सम्बन्ध॥ समर्थको में शंकर रामानुज, निम्बार्क और बल्लभ के मत प्रसिद्ध है । द्वैत सिद्धान्त में महत्व की प्रसिद्ध हुयी । त्रैत सिद्धान्त के प्रबल समर्थक ऋषि दयानंद माने जाते हैं ।

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड, 1,36,37,

अद्वैत वादी सिद्धान्त में शंकर का मत मायावाद अर्थात अद्वैतवाद कहलाया । रामानुज का मत विशिष्ठा द्वैत वाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ निम्बार्क द्वैताद्वैत के प्रवर्तक हुये एवं बल्लभ ने शुद्धाद्वैत का प्रति पादन किया ।

अद्वैत वादी सम्प्रदाय केवल मूल सत्ता एक मानता है । द्वैतवादी सम्प्रदाय मूल सत्तायें दो बताते हैं । त्रैत वादी सम्प्रदाय मूल सत्तायें तीन मानते हैं ।

अद्वैतवाद कहता है कि मूल सत्ता केवल एक ब्रह्म है द्वैत वादी कहत है कि अनादि सत्तायें दो हैं एक ईश्वर दूसरी माया । त्रैतवादी में ईश्वर ज और प्रकृति तीनो का निरूपण मिलता है ।

शंकरा चार्य प्रमुखतः ज्ञान साधन के समर्थक है तो रामानुजाचार्य, निम्बकाचार्य और बल्लभाचार्य भक्ति साधन के समर्थक है । किन्तु ये चारों है अद्वैत सत्ता को मानने वाले । मध्वाचार्य भी भक्ति साधन के समर्थक है । किं मूल अनादि सत्तायें दो मानते हैं । (1) ईश (2) माया (शक्ति)

शंकर के सम्प्रदाय को ब्रह्म सम्प्रदाय या शांकर वेदान्त भी कहा ज है । वैष्णव सम्प्रदायों में रामानुज का श्री सम्प्रदाय निम्बार्क का हँस एवं बल चार्य का रूद्र तथा मध्वा का ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाया इसे गौड़िया सम्प्रदाय मध्व सम्प्रदाय भी कहते हैं ।

उपर्युक्त पाँच सम्प्रदायों (शंकर सम्प्रदाय) श्री, हंस, रूद्र एवं ब्रह्म के स्वरूप और सिद्धान्तो की अवगति के उपरान्त ही ब्रह्म के विषय में सूर अ तुलसी के दृष्टिकोणों को समझा एवं अध्ययन किया जा सकता है ।

शंकर के ज्ञान पर माया के विरोध में ही वैष्णव सम्प्रदायों का जन्म हुआ था । भक्ति के स्वरूप की व्याख्या नारद भक्ति सूत्र और शान्डिल्य भक्ति सूत्र में रामनुज, निम्बार्क, बल्लभ और मध्व भक्ति की समर्थन का विस्ता से वर्णन मिलता है । नारद भक्ति सूत्र में ब्रह्म प्राप्ति के परमानंद लाभ के लिए भक्ति को प्रमुख साधन माना गया है । नारद भक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या सिद्ध कर देती है कि भक्ति, ज्ञान से उत्तम है । नारद कहते हैं ।

अर्थातो भक्तिं व्याख्या स्मायः (1) सात्वस्मिन परमप्रेमरूपा (2) अमृत स्वरूपा च (3) पल्लबधा पुमान सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति (4) यत प्राप्य न कि चि द वाच्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते, नोत्साही भवति (5) याज्ज्ञात्वाभत्तों भवति, स्तब्धो भवति, आलारामो भवति (6)

शाण्डिल्य कर्म प्रधान प्रभु अर्चन को भक्ति कहते हैं । शाण्डिल्य का कथन है कि जब जीवन का प्रत्येक कम प्रभु का अखण्ड अर्चन बन जाता है । तब वह अर्चन भक्ति सार्थक होती है ।

यतः प्रवृतिर्भूर्वानां येन सर्वमिदं ततम् ।।
स्वकमर्ण तमस्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(शाण्डिल्य भक्ति सूत्र 18/45)

इसके अलावा भक्ति के मार्ग में सूफी भक्ति आन्दोलन का भी उदय इसी बीच में हुआ । यह आन्दोलन इतना व्यापक एवं मानवीय था कि इसमें हिन्दूओं के साथ मुसलमान भी आये । सूफी यद्यपि इस्लाम मतानुयायी हैं किंतु अपने दर्शन एवं साधना पद्धति के कारण भक्ति आन्दोलन में गणनीय है । इस्लाम

एकेश्वर वादी है । किन्तु सूफी संतों ने "अनलहक" अर्थात मैं ब्रह्म हूँ । की घोषणा की यह बात अद्वैतवादीओं से मिलती जुलती हैं । सूफी साधना के अनुसार मुनष्य के चार विभाग हैं । §1§ नफ्स §इन्द्रिय§ 2- अक्ल §बुद्धि या माया§ 3- क्लब §हृदय§ 4- रूह §आत्मा§ यह साधना नफ्स और अकल को दबाकर क्लब की साधना से रूह की प्राप्ति होती है । इस बात पर ज्यादा बल देती है । हृदय-रूपी दर्पण में परम सत्ता का प्रतिबिम्ब आभासित होता है । यह दर्पण जितना ही निर्मल होगा रूप उतना ही स्पष्ट होगा अर्थात सूफी साधना भी हृदय की साधना है । इसी से वह भक्ति है । आचार्य शुक्ल ने इसीलिए जायसी आदि सूफी कवियों को कबीर सूर, तुलसी की कोटि में रखा है । यह बात भी महत्व पूर्ण है । कि सूफी सन्तों में प्राय: निम्न वर्ग के लोग थे । और इसमें "रूबिया" जैसी महिला साधिका प्रसिद्ध है । मुल्लाद अद §1379 ई0§ हिन्दी के प्रथम सूफी कवि है । सूफी कवियों की परम्परा 19वीं शदी तक मिलती है । सूफी साधना का प्रवेश 12सती में मुई मुद्दीन चिश्ती के समय से माना जाता है । सूफी सम्प्रदाय के 4 प्रकार है ।

§1§ चिश्ती §2§ सोध्रवर्दी §3§ कादरी §4§ नक्शबन्दी हिन्दी का सूफी काव्य अवधी भाषा में रचित मिलता है सूफी मुसलमान थे लेकिन उन्होंने हिन्दू घरों में प्रचलित कथाओं को अपने काव्य का आधार बनाया । प्रेम भक्ति की पीर की व्यंजना इनकी विशेषता है ।

इनके अलावा नाम देव §महाराष्ट§ एवं गुरूनानक देव §पंजाब§ ने भी भक्ति के दर्शन से परिपूवीत होकर भक्ति आन्दोलन को उभारा । अनुमानत नाम देव पहले सगुणोपासक थे बाद में ज्ञान देव के प्रभाव के कारण नाथ पंथ में आये इसी लिये इन्हे दोनों सगुण एवं निगुर्ण के रूप में जानते हैं । गुरू नानक ,

कबीर से मिलते जुलते थे वे सिख सम्प्रदाय के प्रवर्तक व प्रथम गुरु थे । किन्तु भक्ति का लक्षण भगवद विषयक रति, अनन्यता, पूर्ण समर्पण सब में मिलता है । सदाचार, परदुख कातरता प्राणि मात्र पर करूणा, समभाव, अनावश्यक लौकिक संम्पत्ति के प्रति उपेक्षा अहिंसा आदि का भाव सभी प्रकार के भक्तों में पाया जाता है । इनके निर्भीकता का पुट समावेश है यही भक्ति दर्शन का प्रमुख लक्ष्य था ।

दर्शन के प्रमुख आचार्य:-

शंकरा चार्य ने ब्रह्म की सत्ता मानते हुये उसके समस्त गुणों का खंडन किया था । शंकराचार्य का कथन था कि ब्रह्म की एक मात्र सत्ता अवश्य है-न नास्ति ब्रह्म । कस्मादा का शादि हि सर्व कार्यं ब्रह्मणों जातं ग्रहयते । ब्रह्म नहीं है । ऐसी बात नही है । क्यों नहीं है? क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण कार्य वर्ग देखने में आता है ।[1] परन्तु शंकराचार्य ने ब्रह्म के समस्त गुणों का खण्डन किया जहाँ शंकराचार्य ने प्राकृत, अप्राकृत समस्त गुणों का ब्रह्म में आभाव बताया वहाँ रामानुज ने कहा कि वह प्राकृत गुणों से रहित है । रामानुज और शंकराचार्य में दो शताब्दियों का अन्तर है । फिर भी दोनों का नाम एक क्रम में रख दिया जाता है । इसका कारण यह है कि शंकराचार्य ने जब तर्कसहित ब्रह्म के समस्त गुणराहित्य की स्थापना की तब उनके बाद रामानुज ही ऐसे आचार्य हुये जिन्होंने तर्क सहित ब्रह्म में अप्राकृत गुणों का समावेश सिद्ध किया । रामानुज ने कहा कि निष्फलम्, निरंजनम् इत्यादि गुण निषेधक बचन हेय गुणों का निषेध करते हैं ।[2]

---

1. तैतरीय उपनिषद बल्ली-2, अध्याय-6, शांकर भाष्य
2. सर्व दर्शन संग्रह, मध्वाचार्य, रामानुज दर्शनम्, पृ.-106, 24.

तत्त्वमादि वाक्य समस्त कल्याण गुणों का प्रतिपादन करते हैं । रामानुज के द्वारा कथित इस प्रकार के वाक्य प्राप्त है । वह जो अद्रश्वता आदि गुणों से युक्त है ।[1] एक स्थल पर ही नहीं अनेकों स्थलों पर रामानुज ने ऐसा कहा है । कि ब्रह्म कल्याण कारी गुणों से परिपूर्ण है । श्रुतियों के "नेति नेति" को समझाते हुये रामानुज कहते हैं कि जितना उसको कहा जाय कहा गया है उतना ही वह नहीं है । ब्रह्म सत चित आनन्द इन तीनों गुणों से युक्त है । वह विष्णु रूप में है ।

इस प्रकार निगुर्ण स्वरूप को स्वीकार करते हुये भी सगुण स्वरूप की साधार और सतर्क स्थापना करने वाले पहले आचार्य रामानुज थे । रामानुज के बाद मध्व निम्बार्क, रामानंद, बल्लभ आदि सभी आचार्यों ने सगुण ब्रह्म के स्वरूपों का यत्किंचित भेद के साथ विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ।

दशश्लोकी की टीका वेदान्तरत्नमंजूषा में पुरूषोत्तम चार्य ने कहा है कि निम्बार्क को ब्रह्म का निगुर्ण रूप इसलिये नहीं मान्य है । वह ज्ञान की परिधि के बाहर है "कौस्तुभ" में निम्बार्क ने यही कहा है कि उस ब्रह्म के शरीर अवश्य है नहीं तो उपासना किसकी होती, साधना चिंतन किसके लिये किया जाता ।[2] प्रमाण के लिये उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद से उदाहरण दिया । ऋषि दृष्टा थे । ऋषियों द्वारा वह ब्रह्म देखा गया यह बात उसके स्वरूप है । ऐसा सिद्ध करती है ।[3] भगवान के स्वरूप के दो भेद निम्बार्क ने माने व्यूह और अवतार। व्यूह में वसुदेव को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है ।[4]

---

1. वेदान्त सार, भगवत रामानुज अधिकरण-1 प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद: पृ0-74.
2. निम्बार्क स्कूल ऑव वेदान्त, डा0 उमेश मिश्र ‍{कौस्तुभ-1, 2} {पृ0-29
3. वही. छान्दोग्य {7, 4}
4. वही. वही. पृ0-32,

अद्वैत दर्शन-शांकर वेदान्त:-

शंकराचार्य (ईसा की आठवीं सदी) ने बताया कि अविद्या (माया) ने आत्मा के स्वरूप को अनादि काल से मेघ की तरह अच्छाधित कर रखा है। वस्तुत: आत्मा परमात्मा एक है। माया का आवरण ज्ञान के द्वारा ही हटाय जा सकता है। ज्ञान द्वारा जब जीव आत्मा को देखता है तब मायावरण हटते ही वह ब्रह्म लीन हो कर ब्रह्म मय हो जाता है। दृष्टा दृश्य एक होने पर दृष्टि समाप्त प्राय: हो जाती है। यह शंकर का मत है।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। जीवो ब्रह्मै बनापर: ।।"

यही अद्वैतवादी शंकर वेदान्त का सिद्धान्त है। शंकर के अनुसार मूलत एक है। ब्रह्म, जीव, जगत तो माया के कारण दिखायी देते हैं। वस्तुत: उनक कोई मूल अस्तित्व नहीं है। शंकर के ज्ञान के द्वारा ही माया वृत जीप की भी माया से मुक्ति होती है। और फिर उसका ब्रह्म में तदात्म्य होता है। तब जीव ब्रह्म से मिलकर ब्रह्म ही हो जाता है। शंकर के मतानुसार मूलत: निगुर्ण ब्रह्म निष्क्रीय है माया उसकी इच्छा शक्ति है माया सम्मलित ब्रह्म सगुण ब्रह्म बन जाता है। वही सगुण ब्रह्म ईश्वर है। जो उपासना का विषय है वही ईश्वर अवतार लेता है। निर्गुण ब्रह्म अवतार नहीं लेता है। वह तो ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार मुस्लिम संस्कृति में एक ईश्वर की उपासना प्रमुख है। भारतीय अद्वैतवाद में भी एक ब्रह्म को सत्य मानता है। इसी एकेश्वर वाद की धारणा को अद्वैत वादियों ने निर्गुण की संज्ञा देकर आगे बढ़ाया। प्राचीन भारतीय दर्शन शास्त्रों में ब्रह्म (ईश्वर) को प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) से रहित होने के कारण निगुर्ण कहा गया है। इसी भावना का विस्तार संतो ने यह कह-कर कर दिया कि ईश्वर आकार प्रकार रंग, रूप, नाम, स्थान आदि सीमाओं से परे हैं।

साकारोपासना:-

रामानुज के समय से उपासना और भक्ति पर आचार्यों ने अधिक बल दिया ब्रह्म के निर्गुण सगुण रूप की व्याख्या करना उनका ध्येय नहीं था । निर्गुण ब्रह्म को मानते हुये उन्होंने ब्रह्म के सगुण स्वरूप के किसी विशेष रूप को लेकर उसकी उपासना करना इनका इष्ट था । रामानन्द रामानुज की परम्परा में मानें जाते है । उन्होंने तत्ववाद की अधिक व्याख्या न करके राम की भक्ति के विचार का प्रचार किया । परवर्ती आचार्यों का आपसी मतभेद इस बात को लेकर नहीं था कि भगवान निर्गुण है कि सगुण, वरन इस बात को लेकर था कि वह सगुण किस प्रकार का है । सगुण के ही अनेक स्वरूपों के विषय को लेकर मध्ययुगीन आचार्यों में अधिक मतभेद रहा । स्पष्ट है कि निर्गुण भावना के साथ साकार स्वरूप युक्त सगुण भावना को बाद के आचार्य स्वीकार करके चले । रामानुज ने विष्णु से ब्रह्म को अभिहित कर वासुदेव को षडैश्वर्य गुणों से युक्त प्रथम व्यूह मान लक्ष्मी नारायण की उपासना का प्रचान किया था । रामानंद ने राम को जो कि ब्रह्म के एक सगुण अवतार के रूप में स्वीकार्य है । परमइष्ट के रूप में ग्रहण किया । निम्बार्क की परमात्मा में कृष्ण की उपासना का प्रचलन हुआ ।

आगे चलकर सोलहवीं सदी में बल्लभाचार्य ने ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आगार कहा ।[1] अणु भाष्य में बल्लभाचार्य ने ब्रह्म की सैद्धान्तिक व्याख्या की किन्तु उनका परम लक्ष्य कृष्ण की भक्ति का प्रचार था । बल्लभाचार्य ने ईश्वर के विरुद्ध धर्मत्व को समझाते हुये अपने तत्वदीप निबन्ध में कहा है कि वह निर्गुण होते हुये भी सगुण है जो निधर्मक है । वही सधर्मक भी है । जो ब्रह्म मानकर वाणी से परे है । वही योग से, ध्यान से, शुद्ध भाव से अपनी इच्छा मात्र से गम्य और गोचर हो जाता है ।

---

1. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, डॉ0 दीन दयाल गुप्त भाग-2पृ0349.

ब्रह्म के प्राकृत शरीर और गुण नहीं है---वह सर्वशक्तिमान सर्व निद {अप्राकृत} गुणों से युक्त है ।[1]

ब्रह्म निर्गुण है या सगुण यह रोचक विषय आरम्भ से लेकर अब तक दार्शनिकों के विचार का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है । रामानुज, निम्बार्क मध्व, और बल्लभ, इन प्रसिद्ध आचार्यों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक विद्वान हुये हैं । जिन्होंने ब्रह्म के निर्गुणत्व व सगुणत्व सम्बन्धी सुन्दर तर्क दिये । अठारहवीं शताब्दी में बलदेव ब्रह्म सूत्र के भाष्य में कहते है कि श्रुति के द्वारा सिद्ध है । कि निर्गुण ब्रह्म जगत का कर्ता है। सगुण नहीं ।[2] तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनो रूपों को लेकर भारतीय साहित्य के आदिकाल से लेकर विचार होना प्रारम्भ हुआ और इस साहित्य के विकास के साथ ही ये दोनों विचारधाराओं का क्रमशः विकास होता गया ।

विभिन्न काव्य धाराओं के दार्शनिक विभेद:-

{क} तात्विक भेद:-

संसार में जो भी विद्यमान वस्तु दृश्यमान है उसका आदि स्त्रोत एक ही सत्य है । निर्गुण और सगुण दोनों की भावनाओं का उद्भव उस एक "सत्य" की अनुभूति के पश्चात ही हुआ जैसा कि आरम्भ में संकेत किया जा चुका है वि निगुर्ण और सगुण का प्रश्न उस समय उठा जब उस अलौकिक अनुभूति के अभिव्य समीकरण की समस्या सामने आई । अर्थात् इस अभिव्य समीकरण की विविध

1. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, डॉ0दीन दयाल गुप्त भाग-2पृ0-349
2. वेदान्त पारिजात सौरभ, भाग-2, पृ. -52

क्षेत्रीय बहुरूपता इस सत्य की कोटियाँ निर्धारित करने में कारण भूत हुयीं अतः निर्गुण और सगुण विचार धाराओं के तात्त्विक विभेद की समीक्षा करते समय दृष्टि इस तथ्य पर रखनी है कि निर्गुण और सगुण के निरूपण और विश्लेषण का क्या रूप रहा है । दोनों विचारधाराओं के तात्त्विक विभेदों को समझने के लिये आरम्भ में दोनों के पृथक-पृथक तत्वों को हृदयगंम करना आवश्यक है ।

सगुण विचारधारा के प्रमुख तत्व:-

सगुण विचारधारा में निर्गुण विचारधारा के ब्रह्म के प्राकृत, अप्राकृत, सभी गुणों को अस्वीकार कर दिया गया है । सगुण विचारधारा में ब्रह्म के अप्राकृत गुणों की स्वीकृत है । सगुण विचारधारा में ऐसी मान्यता रही है । कि ईश्वर सत रज तम से उद्धूत और उद्भूत प्राकृत गुणों से रहित है किन्तु सत-चित आनन्दोदभूत अप्राकृत गुणों से युक्त है ।

अप्राकृत गुणों को स्वीकार करते हुय सगुण विचारधारा के अनुसार ईश्वर के गुण अनन्त है असंख्य है । लौकिक वाणी द्वारा उन असीमित गुणों का आख्यान असंभव है । सगुण विचारधारा के अन्तर्गत दूसरा महत्व पूर्ण तत्व है । ईश्वर का ऐश्वर्य और उसकी लीला । ईश्वर के ऐश्वर्य से अभिभूत सगुण विचार-धारा का साधक उसकी अखण्ड लीला में अपने को भुला देना चाहता है । उस ईश्वर की लीला का वह अनेक प्रकार से विस्तार करता है । परन्तु फिर भी उस लीला का उस अनन्त ऐश्वर्य का कहीं आधार का कहीं आदि, अन्त नहीं है । अपनी अकिंचिनता पर विवस होकर वह विमूढ़ भाव से ईश्वर के ऐश्वर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है ।

सगुण विचारधारा में सगुण रूप का महत्व बताते हुये सबसे अधिक बल इस बात पर है कि क्योंकि निर्गुण रूप की उपासना बहुत कठिन है इसलिये उपासना के हेतु सगुण ईश्वर का आलम्बन भक्त के लिये अत्याधिक कल्याणकारी है ।

सगुण विचारधारा में आत्म समपर्ण एव दैन्य भावना पर अत्याधिक बल दिया गया है । "तदर्भिताखिलाचारिता"[1] सब कर्मों को भगवान के अर्पण कर देने की आवश्यकता है । जो भक्त अपने आपको तथा अपने से सम्बन्धित लौकिक एवं वैदिक सब प्रकार के कर्मों को भगवान के अर्पण कर देता है ।[2] उसी में वास्तिवक समपर्ण का भाव है । "तदर्पिताखिलाचारिता" का भाव तभी सपूर्ण होता है । जब काम क्रोध अभिमान आदि भी ईश्वर के प्रति समर्पित हो,[3] इत अतीष समर्पण भाव की पुष्टि के लिये गोपियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है ।[4] कारण यह है कि ईश्वर को स्पष्ट है । ईश्वर को स्पष्ट ही अभिमान से द्वेष भाव से, दैन्य भाव से ही प्रिय भाव है ।[5]

ऐसा ऋषियों मुनियों एवं तपस्वियों का मौलिक विचार है जिसमे विभिन्न धर्मावलम्बियों के विचार मिलते हैं ।

---

1. नारदास्तु तदर्भिताखिलाचरिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति, §19§
   नारद भक्ति सूत्र- पृ0-25.
2. लोकहानौं चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेद त्वात् §61§
   नारद भक्ति सूत्र- पृ0- 105
3. तदर्पिताखिलाचारः सनकाम क्रोधाभिमानदिक तस्मिन्नेव कारणीयम् §65§
   वही. पृ0-111
4. यथा ब्रज गोपिकानाम §21§ वही. पृ0-28
5. ईश्वर स्थाधभिमान द्वैषित्वाद् दैन्य प्रियत्वाच्च §27§ वही. पृ0-42

पूर्ण रूपेण आत्म समर्पण को वैष्णव आचार्यों ने अपनी शास्त्रीय विवेचना के अन्तर्गत प्रपत्ति की संज्ञा से अभिभूषित किया ।

वैष्णव आचार्यों ने प्रपत्ति पर अधिक बल दिया है और इसका शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया है ईश्वर के सम्मुख सर्व भावेन आत्म समर्पण कर देना ही प्रपत्ति है । इस प्रपत्ति अथवा शरणागति के छः भेद कहे गये हैं । इस प्रपत्ति को कायिकी वाचिकी एवं मानसी के रूप में विभक्त कर पुनः इन तीनों के सात्विकी, राजसी, तामसी के आधार पर तीन-तीन भेद किये गये हैं ।

> आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य बर्जरम् ।
> रक्षायिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा ।।[1]
> आत्म निक्षेपकार्पण्ये षटविधा शरणागतिः ।।

तथा

> प्रमाणांकनमुख्यैनन्यास लिंगेन केवलम् ।
> गुर्वधीना हि भवति प्रपत्तिः कायिकी क्वचित-
> अविज्ञातार्थ तत्वस्य मंत्रभीरयतः परम ।
>
> गुर्वधीनस्य कष्यापि प्रपत्ति वाचिकी भवेत ।
> न्यास लिगवतांगेनधियार्थज्ञस्य मंत्रतः ।
> उपासि तगुओः सम्यक प्रपत्तिमनिसी भवेत ।[2]

---

1. पांचरात्र, लक्ष्मीतन्त्र संहिता, पृ." 131

2. रामानंद सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, डॉ0 बद्री नारायण श्रीवास्तव, पृ0- 281-283.

सगुण विचारधारा में भी गुरू का स्थान बहुत महत्व पूर्ण माना गया है गुरू के आधार के फलस्वरूप ही उपासक अपने मार्ग पर उचित दिशा में अग्रसर हो जाता है । गुरू के आधार के आभाव में ब्रह्म और शिव के सदृश होने पर भी भवनिधि का संतरण करना असंभव है ।[1]

अन्तिम तत्व यह कि ईशोपसना के अनेक मार्ग है । पूजा, अर्चन, आरती सभी सगुण विचारधारा ने स्वीकार किये है । किन्तु उपासना का सर्वश्रेष्ठ रूप नाम जप है । नाम जप से कलुषु कर्मों के फलोद्भूत अन्धकार विलीन हो जाता है ।[2] नाम का आधार लेकर मनुष्य काल की अग्नि से बच जाता है । राम का नाम अनन्त सुखों का धाम है । इसकी रक्षा नहीं करनी पड़ती यह स्वयं विपत्ति में रक्षा करता है ।[3]

अधतिभिर दुरत हरिनाम तै ।
ज्यो रजनी चरि.. को चंचल थिरन रहत रवि धाम तै ।
सुमिरन सार प्रकट जस जाकौ भव तारन गुरु गुन ग्राम तै ।
जीवन मरन विधन टारन कोई और नहीं बढ़ स्वाम तै ।
कलह केलि कुल कात कलपना, करत कल्पतरू धाम तै ।
तन मन सुद्ध करन करूवाभय, बर निर्मल निहकाम तै ।

---

1. गुरू बिन्दु भवनिधि तरय न कोई । जो बिरंचि संकर सम होई ।
राम चरित मानस, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, उत्तर काण्ड, पृ०-540
2. श्री निम्बार्क माधुरी, श्री परशुराम देव जी, पृ०- 84
3. सूर सागर, पहला खण्ड, प्रथम स्कंध विनय, पृ०-24 पद स०-9।

मिटत दुरत दुबसि दुसह दुख, सुख उपजत अभिराम तै ।
पतित पतित-पावन पद पर्सत, छूटत छल बल काम तै ।
हरि हरि हरि सुमिरन सोई सुकृत, विरता मत धन धाम तै।
असरन सरन प्रेम रत जनकौ, करन अरति भ्रम भाम तै ।
हरि सुमिरै ताको मप नाही, निर्भय निज विश्राम तै ।
"लिप नहिसंसार सु परसा, अधिकारि जल जाम तै ।।10।।"

गीता को कर्म योग नाम देने वाले बाल गंगाधर तिलक भी उसे भक्ति तत्व से परिपूर्ण मानते है तथा उन्होंने गीता रहस्य में स्पष्ट रूप से लिखा है यह नहीं समझना चाहिये कि श्रवण कीर्तनं विष्णोः, इत्यादि नवधा भक्ति गीता को मान्य नहीं ।"[1]

प्रेम से ईश्वर का नमा लेने वाला व्यक्ति ईश्वर की कृपा का अधिकारी हो जाता है । नाम जप इतना शक्ति शाली है कि वह भक्त को समस्त दोषो से मुक्त करके कंचन वत बना देने में समर्थ है । नाम जप सार का भी सार है ।

"अब तुम नाम गहो मन नागर ।
जातें काल-अगिनि तै बांचौ सदा रहौ सुख नागर ।[2]
मारि न सकै, विघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर ।"

एवं

हमारे निर्धन के धन राम
चोर न लेत, घटत नहि कबहूँ, आबत गाढ़ै काम ।
नहि जल बूढ़त अगिनि न दाहत, है ऐसो हरि नाम ।
बैकुंठ नाथ सकल सुख दाता, सूरदास सुख धाम ।[3]

---

1. गीता रहस्य, बालगंगा धर तिलक, पृ0- 37
2. सूर सागर पृ0- 56 पद- 176.
3. सूर सागर, पृ0-76.

भरोसो एक नाम कौ भारी ।
प्रेम सौ जिन नाम लीन्हो, भय अधिकारी ।

सार कौ सार, सकल सुख कौ सुख,[1]
हनुमान-सिव जानि गहयौ ।
आदि की महत्ता विचारणीय है ।

निर्गुण विचारधारा के मुख्य तत्व:-

सर्व प्रथम यदि निर्गुण विचारधारा के तत्वों पर दृष्टि पात किया जाय तो ज्ञात होता है कि ब्रह्म को निर्गुण कहने के साथ ही उसके व्यापकत्व पर सर्वाधिक बल दिया गया है । परन्तु इस व्यापकत्व को निर्गुण सिद्ध करने के लिये इस प्रकार के वर्णन किए गये उपलब्ध होते हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म विश्व में पूर्ण रूप से व्याप्त होने पर भी पूर्ण रूप से उसके परे है । एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक इसके उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है ।

ॐ पूर्णमदः पूर्ण मिदम् पूर्णातपूर्णामुदच्ययते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते ।।[2]

ऐसा भी संभव है कि उपर्युक्त विचारधारा के मूल उदगम् के रूप में यही श्लोक रहा है ।

---

1. सूर सागर, पद-351 पृ0- 117, पंक्ति-सं0-4
2. वृहदारण्यकोपनिषद, 2, 5, 19.

निर्गुण विचारधारा का दूसरा मुख्य तत्व यह है कि तथापि उस निर्गुण ब्रह्म तक दर्शन की शास्त्र रूप में पहुँच नहीं फिर भी उसका साक्षात्कार संभव है । वह निर्गुण ब्रह्म अनुभूति के माध्यम से दृष्टव्य हो सकता है ।[1] साधक उस निर्गुण ब्रह्म का अपने अंतकरण में साक्षात्कार कर सकता है । अनेक उदाहरण के उद्धहरण इस प्रमाण के दिये जा सकते है ।

जैसे-

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरो ।[2] अथवा
ततस्तु तंस्य पश्यते निष्फलं ध्यानमानः[3] अथवा
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदार्शिभिः ।[4]

निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार का उसके दृश्यमान होने का जब प्रश्न उठता है तो उससे संबन्धित दूसरा पक्ष तथ्य रूप में उभरता है कि साक्षात्कार किसके हृदय में होता है । अतः साधक का अपरोक्ष रूप से महत्व है । जब साधक निर्गुण ब्रह्म को उपलब्ध करने के हेतु साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है । उस समय वह देखता है कि परमात्मा की अनन्त शक्ति उसका एक गौण लक्षण है ।

---

1. ब्रह्म सूत्र, अधिकरण- 2, सूत्र-2
2. मुण्डकोपनिषद, मुण्डक-2, खण्ड-2, श्लोक-7
3. वही. खण्ड-1, श्लोक-8
4. कठोपनिषद, अध्याय-1 बल्ली-3 श्लोक-12.

परमेश्वर जो विश्व का कर्ता धर्ता नियन्ता शासक और अधिपति हो नहीं व्यापक तत्व भी है । वह घर घर में कण कण में । अणु परमाणु में व्याप्त है । वही एक मात्र हमारे अन्दर साक्ष्तु है । वास्तिवकता यह है कि निर्गुण मार्ग का साधक जब उस शक्ति की उपलब्धि कर लेता है ~ब उस व्यापक और व्याप्त में वह स्वयं ही घुल जाता है । उसका पृथक अस्तित्व नहीं रह जाता है । वह जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है ।

जीवनमुक्त की स्थिति प्राप्त करने के अन्तर यदि साधक अभिव्यक्ति का प्रयास करता है तब वह अपने को असमर्थ सा पाता है अधिकतर स्थिति यह होती है । कि संसार में स्थिति जीवन युक्त साधक आनन्दानुभूति से उद्वेलित होकर बारम्बार यही प्रकट करता है । कि वह निर्गुण ब्रह्म अभिव्यक्ति के परे है । परन्तु हिन्दी साहित्य में निर्गुण विचारधारा का अस्तित्व यह घोषित करता है कि उस निर्गुण बल की अनुभूति को जो अभिव्यक्ति से अतीत है । अभिव्यक्ति करने का प्रयास साधकों ने बार-बार किया । परन्तु साथ ही यह भी सच्चाई है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति के साथ-साथ इस अनुभव की भी अभिव्यक्ति है कि परमात्मा के विषय में कितना भी कह डालिये फिर भी बहुत कुछ कहने को रह जाता है । कबीर ने इसीसे विवस होकर सम्भवतः यह कह दिया कि "परमात्मा कुछ भी है भी, या सब सून्य ही है ।"

तहाँ किछु आह कि सून्यं ।[1]

महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्गुण विचारधारा के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है । इस सम्बन्ध में बड़ी तथ्य पूर्ण उपलब्धियाँ

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ0- 143, पद- 164.

उक्तियों के रूप में उपलब्ध होती है । कारण सम्भवत: यह था कि सन्त एवं दृष्टा ने जब साध्य का यथा तथ्य वर्णन करने में अपने को असफल पाया तब उस साध्य के दर्शन अथवा मार्ग अथवा साधना सम्बन्धी उल्लेख करके अपने को किंचित संतुष्ट किया ।

निर्गुण ब्रह्म अथवा उसका दर्शन किस प्रकार किया जाय इस संबध में बड़े स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होते हैं । ईश्वर को पाने के लिये पहली और अंतिम बात है आत्म समर्पण । सम्पूर्ण रूपेण आत्म-समर्पण प्रेमानुभूति के लिए सबसे अधिक आवश्यक है ।

साधना के क्षेत्र में दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि कहीं किसी प्रकार की रूढ़ियों पर न विश्वास हो जाये । रूढ़ियाँ धार्मिक, शास्त्रीय अथवा धार्मिक शास्त्रीय अथवा सामाजिक हो सकतीं हैं । रूढ़ियों पर श्रद्धा के रखने वाला साधक किस प्रकार सफल हो सकता है । निर्गुण विचार धारा में प्रत्येक प्रकार की रूढ़ियों एवं जर्जरित मान्यताओं का खण्डन किया गया है ।

निर्गुण विचारधारा में साधना के मार्ग में तीसरी जिस बात पर बल दिया वह है गुरू का महत्व । साधक को अपने मार्ग पर उचित रूप से आगे बढ़ते रहने के लिये निरंतर गुरु का सहारा लेना पड़ता है । इस विचारधारा में गुरू का स्थान कहीं कहीं इतना बड़ा ठहराया गया है कि उस चरम लक्ष्य ब्रह्म और उसकी अनुभूति के अलौकिक आनन्द से भी गुरू को महान कहा गया है । गुरू इतना सामर्थ्य पूर्ण होता है कि मनुष्य से देवता बना देने में देर नहीं लगती ।[1]

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ0- 1 दोहा सं0-2

गुरू अन्तर्दृष्टि को उधाड़ कर अनंत का दर्शन करा देता है ।[1] सतगुरू प्रीति के साथ हृदय के शब्द ज्ञान के बाण से विद्ध कर देता है ।[2] वास्तविक ज्ञान को हस्तामलकवत बना कर शिष्य के मार्ग को प्रकासित कर देता है । ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान को प्रकाशित करने वाला गुरू मिलता है । उसका विस्मरण नहीं करना है ।[4] जिसको गुरू नहीं मिलता उसकी शिक्षा अधूरी रह जाती है[5]। गुरू प्रेम के रसवर्षण से पहले आत्मा को सरस व पल्लिवित कर देता है ।[6] उस पूर्ण से परिचय कराकर आत्मा को निर्मल कर देता है । घर-घर में एक ही ईश्वर व्याप्त है । वह तभी प्रकट होता है जब गुरू मिलते है ।[7] इसीलिये जहाँ गुरू चरण रखे वहाँ साधक को अपना शीश रखना उचित है । जब तक गुरू मन को नहीं सिखता तब तक केवल बातें करने में कुछ सार तत्व हाथ नहीं आता है ।

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ0-1 दोहा सं0-3
2. वही। दोहा-सं0-13
3. वही। दोहा-सं0-27
4. वही। दोहा-सं0-34
5. वही। दोहा-सं0-35
6. संत काव्य, पृ0-276, गुरू नानक, पद सं0-6
7. जायसी ग्रंथावली, पं0 राम चन्द्र शुक्ल, बोहित खण्ड, पृ0-62 दोहा-सं0-2
8. चित्रावली, उसमान, श्री जगमोहन वर्मा, पृ0-10, पंक्ति सं0-13

निर्गुण ब्रह्म को पाने के लिये ईश्वर नाम का सहारा लेना पड़ता है । बिल्कुल निराधार रह कर साधक ब्रह्म की अनुभूति को पाने के लिये किस प्रकार प्रयास करता है । यद्यपि ऊपर से देखने में यह बात असंगत सी ज्ञात होती है कि जो निर्गुण ब्रह्म नामातीत है । उसके लिये नाम का सहारा लिया जाये । परन्तु तथ्य यही है कि निर्गुण विचारकों ने उस नामातीत को पाने के लिए नाम स्मरण पर भरपूर बल दिया । नाम स्मरण वाले निर्गुण विचारधारा में जहाँ एक ओर आकार रूप रंग, रूढ़ि पूजा, पाठ सब का पूर्ण रूप से तिरस्कार है । वहाँ नाम स्मरण को बहुत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है । मेरे विचार से निर्गुण विचारधारा में यदि कहीं स्थूलता है तो वह इस नाम स्मरण के आधार में ही सीमिति है । यद्यपि यह निश्चित है कि एक निर्गुण मार्गी साधक उस आनन्दाभूत (आनन्द+अनुभूति) को जब प्राप्त कर लेता है । तब उसे नाम की किचिंत मात्र भी आवश्यकता नहीं रह जाती ।

नाम स्मरण के अलावा अन्य किसी आकार (साकार) अथवा सगुण रूप पर इस विचारधारा में प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास प्रकट कियागया है । मूर्ति तथा अवतारो का तो स्पष्ट खंडन कियागया है ।

स्थानत्रयी अर्थात उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा गीता में ब्रह्म के परोक्ष व अपरोक्ष, रूप और सगुण स्वरूपों पर भी यद्यपि विचार किया गया है । पंरतु अंततः ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण बताया गया है । निर्गुण विचारधारा के संतो ने समस्त साहित्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की इस धारा के सन्तो को अपनी साधना पर इतना विश्वास था कि निर्गुण भावना के पोषक साहित्य की भी इन्होंने अवहेलना की । दार्शनिक ग्रंथों में अति प्राचीन काल से ब्रह्म के विषय पर विचार किया गया था । परन्तु मध्य युगीन संतो ने जिनमें कारण निर्गुण विचारधारा उभर कर सामने आई इनका भी सहारा नहीं लियाउनके पास सहारा था अपनी अनुभूति का, अपनी साधना का और अपने गुरू की वाणी का ।

अर्थात् निर्गुण विचारधाराओं को मानने वाले साधक पूर्ण रूप से अंत-मुर्ख होकर अग्रसर होता है । अन्तिम स्थिति तक ब्रह्मानंद को पा लेने के अनंतर अभिव्यक्ति का रूप देने के लिये उसे किसी माध्यम की आवश्यकता होती है । वह उसे प्रतीकों द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है । प्रतीक, साकार स्थूल न लेकर अपेक्षाकृत सूक्ष्म लिया जाता है । जैसे पुष्प की गंध या पत्नी का पति प्रेम या बादल में बिजली की चकाचौंध या अग्नि की ऊष्मता आदि ।

तुलना एवं निष्कर्ष:-

संक्षेप में यदि ऊपर कहे गये निर्गुण और सगुण विचारधारा के मुख्य तत्वों के विभेद को देखा जाये तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि उन दोनों विचारधाराओं में तात्त्विक विभेद कम है । व्यवहारिक विभेद अधिक है । वेंदान्त साहित्य में सगुण विचारधारा, निर्गुण विचारधारा से उस ढंग से अलग नहीं है । जिस ढंग से बाद में जाकर की गई है । सगुण और निर्गुण को मिलाकर उपनिषद् में ईश्वर को गुणेश[1] वाचक दिया गया है । ईश्वर गुणेश है । अर्थात् गुणों का शासक है । ऐसी स्थिति में उसके गुणों के सम्बन्ध में भेद विभेद का क्या प्रश्न उठता है ।

वृहदारण्यको-पनिषद में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है । मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थिर और यत §चर§ तथा सत और त्यत् । जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है । वह मूर्त है । यह मर्त्य है । यह स्थित है । यह सत है । उस इस मूर्त का, इस मर्त्य का इस स्थित का इस सत का इस रस का यह रस §सार§ है कि यह तपता है । यह सत् का ही रस है । तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त है । ये अमृत है । ये यत इस यत् का इस त्यत् का यह सार है।

---

1. श्वेताश्वेतरीयनिषद, §16§

कि जो कि इस मंडल में पुरूष है यही इस त्यत् का सार है । यह अधिदैवत दर्शन है । अब अध्यात्म मूर्ता मूर्त का वर्णन किया जाता है जो प्राण से तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है । इससे भिन्न है । यही मूर्त है यह मर्त्य है । यह स्थित है । यह सत है । यह जो नेत्र है । वही इसी मूर्त का इस मर्त्य का इस स्थित एवं सत का सार है । यह सत का ही सार है । अब अमूर्त का वर्णन करते हैं । प्राण और शरीर के अन्तर्गत जो आकाश है । वह अमूर्त है । यह अमृत है यह यत है । यही त्यत् है । उस इस अमूर्त का इस अमृत का इस यत का इस त्यत् का ही रस है । इस पुरूष का रूप चमत्कार ऐसा है । जैसे कुसुम से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र हो जैसा इन्द्र गोप हो जैसी अग्नि की ज्वाला हो जैसा श्वेत कमल हो और जैसे बिजली की चमक हो ऐसा जान पड़ता है । उसकी श्री बिजली की चमक के समान (सर्वत्र एक साथ-फैलने वाली) होती है । अब इसके पश्चात् नेति-नेति यह ब्रह्म का निर्देश है । नेति नेति इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ठ आदेश नहीं है । सत्य का सत्य यह उसका नाम है प्राण भी सत्य है । उनका यह सत्य ही सत्य है ।[1]

उस ऐसे नेति नेति का गार्गी के सम्मुख याज्ञवल्क्य ने अक्षर के नाम से इस प्रकार वर्णन किया--वह न मोटा है । न पतला है, न छोटा है। न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तत्र है, न वायु है, न आकाश है, न संगवान है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न माप है, न नाक है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न सुख है, न माप है । उसमें न भीतर है न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता और उसे कोई भी नहीं खाता।[2]

---

1. बृहदारण्योपनिषद, द्वितीय अध्याय, तृतीय ब्राह्मण, 9-6
2. वही० तृतीय अध्याय, अष्टम ब्राह्मण, (8)

जहाँ पर इस प्रकार की व्याख्या है । वहीं पर दूसरे ढंग से सकर्मक व्याख्या भी है । यह दूसरे प्रकार की व्याख्या दूसरे उद्धरण में भी है । हे गार्गी । इस अक्षर के हैं प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुये स्थिति रहते हैं । हे गार्गी । इस अक्षर के ही प्रशासन में द्युलोक और पृथ्वी विशेष रूप से धार किये हुये स्थिति है । हे गार्गी । इस अक्षर के प्रशासन में निभिव मुहूर्त, दिन रात, अर्धमास (पक्ष) मास ऋतु और संवत्सर विशेष रूप से धारण किये हुये स्थित है । हे गार्गी । इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्व वाहिनी नादियाँ जिस दिशा की ओर बहने लगती है । उसी का अनुसरण करती रहती है । हे गार्गी । इस अ॒र के हैं प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रसं॒ा करता है । तथा देव गग यजमान का और पितृगण दवी-होम का अनुवर्तन करते है ।[1]

विशेषता अन्त में है जब याज्ञवल्क्य इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुये कहते हैं । हे गार्गी । यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं किन्तु दृष्टा है । श्रवण का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है स्वयं अविज्ञान रहकर दूसरो का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं, और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं हे गार्गी निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है ।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों का इस स्थल में देने का आशय स्पष्ट रूप से यह है कि ब्रह्म के स्वरूप (निगुण एवं सगुण) के दोनों तत्वों को शब्दो में प्रकट करने के लिए इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद, तृतीय अध्याय, अष्टम ब्राह्मण, (9-10),
2. वही० (11)

निर्गुण और सगुण को अलग-अलग समझाते हुये दोनों के तात्विक विभेद को याज्ञलब्य ने गार्गी को समझाने के लिये सुन्दर ढंग से स्पष्टता करके बतलाया है ।

ब्रह्म के गुणों की सीमायें उनकी परिव्यापित इतनी रहस्यात्मक है कि उसमें किसी भौतिक गुणों की सीमाओं का समावेश नहीं किया जा सकता है । और यही कारण है कि ब्रह्म को निर्गुण कह दिया जाता है । जहाँ पर "गणेश" कहा गया है वहाँ पर यही तात्पर्य है । कि ब्रह्म अपने निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का स्वयं नियन्ता है । समस्त प्राकृत अप्राकृत गुणों का समावेश उस ब्रह्म में है । यही कारण है कि अभिव्यक्ति की प्रत्येक प्रणाली को अपनाने पर भी कवि व दार्शनिक अपने अनुभवगम्य सत्य की यथा तत्य अभिव्यक्ति में अपने को असफल असमर्थ पाता है । तभी वह उसे द्वैता द्वैत, या विलक्षण कह कर मौन हो जाता है ।

दार्शनिक विचारधारा का व्यवहारिक स्वरूप:-

समस्त ज्ञान के मूल में अनासक्त आस्था है । इसका सबसे पहले बड़ा प्रमाण उपनिषद है । जो ऐसा जानता है कि वह इसके अलावा उसे कौन जान सकता है ।

उपनिषद की यह उद्घोषणा है कि पहले स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि सत्य है । अस्तित्व है, ब्रह्म है । कुछ भी कहें वास्तिविकता यह है कि समस्त सृष्टि के मूल में कोई तत्व है जो इस जगत से परे है । साथ ही इस जगत में अणु अणु में व्याप्त है । इस श्रद्धा को जो लेकर चलेगा वही ज्ञान का अधिकारी है ।

यह अवश्य है कि इस प्रकार के भी दर्शन शास्त्र है । उदाहरण स्वरूप चार्वाक के सिद्धान्त जिसमें ईश्वर के प्रति सरल अनास्था है । और शास्त्रों के अन्तरर्गत उसकी भी मान्यता है । परन्तु हिन्दी भक्ति साहित्य के प्रसंग में ऐसे शास्त्र ग्रंथो का उल्लेख करना नितान्त अप्रासंगिक होगा क्योंकि भक्ति साहित्य का सम्बन्ध दर्शन शास्त्र के उन्ही ग्रंथो से है जिसमें उस "महान" सत्य के प्रति गहरी व अटूट आस्था की भावना थी, जैसा आरम्भ में कहा गया है कि उपनिषदों में ईश्वर के प्रति पूर्व आस्था पर बल दिया गया है । उपनिषदों की ज्ञान की पराकाष्ठा कहना अउचित न होगा । वहाँ इस प्रकार के कथन को देखकर कि पहले मानकर चलो कि वह है गणित का सिद्धान्त स्मरण हो आता है कि समस्या हल करने के लिये पहले कुछ भी मान लेनापड़ता है ।

अध्यात्म के क्षेत्र में "दर्शन" बहुत सूक्ष्म व अत्यन्त अलौकिक भावना से सम्बन्ध रखता था । जिसे उस अपरिसीमि को जानने की अटूट जिज्ञासा होती थी वह उसकी वास्तिवकता का दर्शन कर सकने में समर्थ हो सकता था । ऐसा "दर्शन" के सौभाग्य से युक्त दृष्टा ( ) अपने अभिव्यक्त करने का प्रयास करता था इस भिन्न रूपात्मक प्रकृति जगत में उस अभिन्न तत्व का दर्शन करना जो सबकी भिन्नता के अनन्तर भी सबसे समान रूप से स्थित है । उसे जान लेना दृष्टा की स्थिति है । यह दर्शन निश्चित रूप से अनुभव की वस्तु है ।

बाद में चल कर दर्शन धीरे-धीरे किन्ही विशिष्ठ दार्शनिक का सिद्धान्तों का द्योतक हो गया । हिन्दी भक्ति साहित्य के प्रसंग में जब दर्शन का प्रश्न उठता है । तो स्वभावतः हिन्दी भक्ति साहित्य के अंतरर्गत आये हुये दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर ध्यान जाता है । हिन्दी भक्ति साहित्य की दोनों धाराओं में दार्शनिक सिद्धान्तों का आभाव नहीं है ।

फिर भी हिन्दी के मध्य युगीन साहित्य को भक्ति साहित्य की संज्ञा दी जाती है । दर्शन शास्त्र की नहीं, कारण यह है कि दर्शन जब हिन्दी भक्ति साहित्य में ग्रहण किया गया तब वह अपनी सीमा से निकल कर भक्ति की सीमा में प्रविष्ठ हो चुका था दर्शन का भक्ति से इस प्रकार मिल जाना नितान्त स्वाभाविक था । मानव स्वभाव और देश की तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये यह अवश्यमभावी था ।

भक्ति की इस अलौकिक भावना के अन्तर्गत दर्शन और धर्म दोनों का सम्मिलन हो गया था । कुछ विद्वानों का इसलिये यह मत है कि मध्य युगीन हिन्दी साहित्य दर्शन और भक्ति मिलकर एक हो गये । मध्य युग का भक्ति साहित्य धार्मिक साहित्य के रूप में पूर्ण रूप से समाहित है ।

मध्य युगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में दर्शन अपने व्यवहारिक रूप में भक्ति का रूप धारण करके प्रकट हुआ । भक्ति के क्षेत्र में दार्शनिक सिद्धान्तो से भी ऊपर उठाना पड़ता है । नारद भक्ति सूत्र और उनकी ऋचाओं सूत्रों में "वेदानामपि सन्यसति" इस बात का प्रमाण है । शास्त्र ज्ञान तो सीढ़ी है । लक्ष्य तो आत्म ज्ञान है । उस आत्म ज्ञान के लिये दार्शनिक सिद्धान्तो का ज्ञान भक्ति की अपेक्षा हीन है ।

कबीर ने पुस्तक ज्ञान को बहा दिया था परन्तु दरिया ने इस बात को बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा था कि शास्त्र ज्ञान की धूल अंगों में लिपटी है । अर्थात् इस शास्त्र ज्ञान की धूल लेकर उस पवित्र ज्ञान की सीमा में प्रवेश असंभव है । उस दर्शन को पाने के लिये तो अत्यन्त निर्मल बनना पड़ता है जो केवल भक्ति से संभव है ।

यह सत्य है कि इस अत्यन्त व्यवहारिक भक्ति के माध्यम से सगुण निर्गुण दोनों धाराओं की भक्ति में उसके "दर्शन" के फलस्वरूप ही अभिव्यक्ति का प्रयास होता है । तत्व एक है । उसका दर्शन उसका अनुभव अन्ततः एक है । अतः यह निश्चित है कि एक वस्तु का अनुभव एक प्रकार से ही अभिव्यक्त होगा । नारद ने अपने भक्ति सूत्र में कहा कि वह सूक्ष्मतम् है । अनुभव रूप तुलसी ने उत्तरकाण्ड में उसे अनुभवगम्य कहा । सूर, कबीर सभी संत उसकी अनुभूति को ही सब कुछ कहते हैं । साथ ही उस अनुभूति के अभिव्यक्ति को असंभव बताते हैं । वह मूक के आस्वादन के समान है ।[2]

यह नारद भक्ति सूत्र में मिलता है इसी बात को हिन्दी भक्त कवियों ने कुछ स्थलों पर इस प्रकार कहा है कि जैसे "सैन करे मन ही मन रहसैगूँगे जानि" मिठाई ।[3] अथवा, गूँगे का गुड़ गूढ़ों जाना ।[4]

यह भक्ति की भावना साकार निराकार से परे थी । नारद के मत में तो प्रतिफल भगवान को स्मरण रखना है, भक्ति है । यह बात इसलिये और भी स्पष्ट हो जाती है कि नारद ने भक्ति सूत्र में अपना यह मत व्यास और गर्गाचार्य के मत को समझ रखने के अनन्तर उनसे तुलना करते हुये प्रकट किया । व्यास जी के मत में भगवान की पूजा आदि करना भक्ति है । गर्गाचार्य के मत में कीर्तन, भजन, पुराणादि में प्रीति करना भक्ति है पर नारद के मत में तो प्रतिफल भगवान को स्मरण करना ही भक्ति है ।

---

1. नारद भक्तिसूत्र, 54
2. मूकास्वादवत् नारद भक्ति सूत्र, सूत्र-51
3. कबीर ग्रंथावली पृ0-90, पद सं0-6, भक्ति सं0-8.
4. वही, पृ0-109, पद सं0-68, भक्ति सं0-7

अत: निर्गुण सगुण विचारधाराओं के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों का व्यवहारिक स्वरूप में एक ही अन्तिम तथ्य है कि भगवान का प्रतिफल स्मरण करना ।

इस स्मरण के लिये नाम की सहायता लेने में दोनों धाराओं में अविरोध है। सबसे अधिक प्रयोग राम नाम का मिलता है ।

रमणशील व्यापक तत्त्व के लिये राम ही सबसे उपयुक्त नाम है ।

इस नाम की महानता और औचित्य के समक्ष दूसरा कोई नाम नही है । परन्तु यह नाम भी केवल माध्यम है । लक्ष्य तो उस स्थिति को प्राप्त करता है । जहाँ भक्ति, भक्त और भगवान एक हो जाते हैं । ऐसी स्थिति पर पहुँचने पर नाम की आवश्यकता नहीं रह जाती है । साधक का अणु परमाणु जब उस ईश्वर की सत्ता की चैतन्यता से ओत प्रोत हो जाता है । तब कौन नाम ले और किस का नाम ले, काल स्थान सबका महत्व मिट जाता है । सच्चा भक्त इस प्रकार अपनी साधना में रत जीव युक्त हो जाता है ।

यही भारतीय भक्ति दर्शन का सिद्धान्त है जो दैनिक जीवन में उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

द्वितीय अध्याय

सूर काव्य की दार्शनिक विचारधारा

तत्कालिक परिस्थितियाँ:-

उस युग की तत्कालिक परिस्थियों को देखने पर मालूम होता है कि मुसलमान बादशाह मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ते जा रहे थे और हिंदू तीर्थस्थानों को बरबाद कर रहे थे। नाना उचित अनुचित उपायों से भोली-भाली हिन्दू जनता को मुसलमान बनाया जा रहा था। आये दिन हिन्दू भले घरों की बहू-बेटियों का सतत्वि नष्ट किया जा रहा था। कवि तत्कालिक परिस्थिति का युग दृष्टा के साथ-साथ सामाजिक सुधारक के रूप का योद्धा होता है। तत्कालिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हिन्दू जनता के मानसिक बदलाव को सूरदास जी से समझा और भक्ति के रूप में एक दर्शन की नींव डाली। उन्होंने आदि गुरूओं के भौतिक एवं अध्यात्मिक विवेचनाओं को समझाते हुये भक्ति की विशेष उपलब्धियों को तार्किक विश्लेषण कर हिन्दी साहित्य जगत को नई दिशा प्रदान की जो कि साहित्यिक विधा का दर्शन कहलाया। उस समय बौद्ध धर्म का लोप हो चुका था। असल में वह पुनरूज्जवित हिन्दू धर्म में ही घुल मिल गया था। हिन्दू सभ्यता अब पुरानी वैदिक सभ्यता नहीं रह गई थी। उसमें नाना भाँति के अवैदिक उपादान आ मिले थे। ऐसे में भक्ति का आलम्बन उस युग की पहिचान बना। बौद्ध धर्म का दुखवाद, वैराग्य, मूर्तिपूजा, इत्यादि बातें हिन्दू-धर्म की अपनी चीज हो गई थी।

अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने सिद्ध किया है[1]। कि बौद्ध धर्म की यह अपनी चीजें या बातें पहले से ही आर्येत्तर जातियों में विद्यमान थी। आर्य सभ्यता का प्रधान केन्द्र था यज्ञभूमि और द्रविड़ सभ्यता का तीर्थ। उत्तरकाल में यज्ञो का स्थान तीर्थों ने ले लिया था।

---

1. भारतीय मध्य युगेतर साधना-अध्यापक क्षितिमोहन सेन, पृ0-14

विदेशी संस्कृति से आत्म रक्षा के लिये अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगी थी §1§ कबीर आदि की निर्गुण साधना §2§ सूरदास आदि की सगुण साधना । पहली शक्ति शास्त्र कार्य के लिये एक स्वयं समस्या थी ।

भक्त-साधकों की दूसरी धारा शास्त्र की परिस्थिति का सामंजस्य करती हुयी आगे बढ़ी इन्होंने शास्त्र से उन अंशों को जो भक्ति सिद्धान्तो के अविरोधी थे, ज्यों का त्यों मान लिया परन्तु अन्य अंशों की उपेक्षा की । यहाँ एक मात्र उद्देश्य केवल सूरदास से सम्बन्ध रखना है । अपने सिद्धान्त की परीक्षा के लिए हम सूरदास के समसामयिक भक्तों के ग्रंथों से यथासाध्य उद्धरण देने का प्रयत्न करेगें ।

सूरदास आदि भक्त कवियों में कही विरोध की ध्वनि नहीं है । उन्होंने लक्षणा, व्यंजना भाषा के द्वारा तुलना उपनिषद्ध के ऋषियों से की जो यज्ञ याज्ञ के विरोधी नहीं उपेक्षक थे ।

सूरदास का सूर सागर प्रेम का काव्य है । जिसमें प्रेम मय दर्शन की विवेचना प्रतीकात्मक शैली का अनूठा उदाहरण है । इसमें प्रेम की लीला का वर्णन करते-करते प्रसंग वश वे कहीं योग, तीर्थ आदि पर कुछ कह गये है । जो कि उनके दर्शन के स्वरूप का अवलोकन कराता है ।

सूर के सम्बन्ध में महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भी अपने कविता पर स्पष्ट किया है कि-

सत्य करे कहो मोरे है वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि?

कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम-गान ।
बिरहतापित? हेरि काहार नयान ।
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ।
बिजन बसंत राते मिलन-शयने ।
के तोमारे बँधे छिल दुठि बाहु ढोरे ।
आपनार हृदयेतर अगाध सागरे ।
रेखे छिल मग्न करि? एतो प्रेम-कथा,
राधिकार चित्र दोर्ण तीव्र व्याकुलता
चुरि करि लइया कार मुख, कार ।[1]

सूर दास आदि भक्त कवियों ने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व भगवान को समर्पित किया । कुछ लोग इस रहस्य से परिचित नहीं है ; हम जो चीज देवता को दे सकतें हैं वही अपने प्रिय को देते है। और प्रियजन को दे सकते है । वही देवता को देते हैं । और हम पायेगें कहाँ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं । प्रिय को देवता ।

देवतारे याहा दिते पारि दिइता
प्रिय जाने, प्रियजने याहा दिते पाई
ताइ दियू देवतारे आर पावो कोथा?
देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता ।[2]

---

1. वैष्णवकविता- रविन्द्र नाथ ठाकुर, पृ0-13.
2. वही. पृ0-17.

महाकवि सूरदास ने प्रेम भक्ति का प्राचुर्य निम्न सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित किया ।

(1) प्रेम ही परम पुरूषार्थ है मोक्ष नहीं—
प्रेमापुमर्थो महान,
(2) भगवान के प्रति प्रेम कौलीन्य से पड़ी चीज है ।
(3) भक्त भगवान् से भी बड़ा है ।
(4) भक्ति के बिना शास्त्र ज्ञान और पांडित्य व्यर्थ है ।
(5) नाम रूप से भी बढ़कर है ।

यह धर्म ब्राह्मण-धर्म का विरोधी तो नहीं था परन्तु उसका सम्पूर्ण अनुगामी भी नहीं था महायान मत से इसका अन्तर यही था कि वह ब्राह्मण धर्म का पूर्ण विरोधी है । और उसका यह अंग होकर भी स्वाधीन है ।

महाकवि सूरदास ने "सूर सागर" ग्रंथ लिखकर भक्ति के स्वरूप का जो दर्शन प्रस्तुत किया वह उक्त युग की धरोहर बन गई । तथा इसके अलावा सूर-सारावली, साहित्य लहरी, आदि की भी रचनाएँ की वैसे सूर-सागर इनका प्रमुख ग्रंथ माना जाता है । इसमें इन्होंने सगुण भक्त रूपक कृष्ण के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला है और युग की परिस्थित दर्शन का विविध रूपों में विश्लेषण किया है । यही युग की सार्थकता थी जिससे भक्ति युग स्वर्ण युग की पहिचान बना ।

डॉ0 दीन दयाल गुप्त ने सूरदास जी द्वारा रचित पच्चीस पुस्तकों की सूचना दी है । जिसमें सूर-सागर, सूर-सारावली, साहित्य लहरी, सूर-पचीसी, सूरामायण, सूर-साठी और राधा रसिकेल प्रकाशित हो चुकी है ।[1]

1. अष्ट छाप और बल्लभ सम्प्रदाय-डॉ0 दीन दयाल गुप्त-पृ0-29.

सूर के काव्य का मुख्य विषय है । कृष्ण भक्ति जिसमें उन्होंने भागवत पुराण को उपजीव मान कर राधा कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन सूर-सागर में किया है ।

दार्शनिक परिपेक्ष्य:-

सूर की भक्ति पद्धति का मेरूदण्ड पुष्टि मार्गीय भक्ति है भगवान की भक्ति पर कृपा का नाम ही पोषण है । पोषण तदनुग्रह: । पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिये भक्त के दो रूप बताये गये हैं । साधन रूप और साध्य रूप, साधन रूप में भक्त को प्रयत्न करना पड़ता है । किन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है । पुष्टि मार्गीय भक्ति को अपनाने के फलस्वरूप प्रभु स्वयं भक्त का ध्यान रखते हैं भक्त तो अनुग्रह पर भरोषा करके शान्त बैठ जाता है । इस मार्ग पर भगवान के अनुग्रह पर विशेष बल दिया जाता है । भगवान का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्त करने में सफल होता है ।

जा पर दीना नाथ ढरै ।
सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै ।
सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै ।

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिये सूर की भक्ति पद्धति में अनुग्रह का ही प्रधान्य है । ज्ञान, योग, कर्म यहाँ तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है । उन्होंने भगवादाशक्ति के एकादश रूपों का वर्णन किया है ।

नारद भक्ति सूत्र के मतानुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार है । गुणमाहात्म्या सक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदानासक्ति, तन्यमयासक्ति, और परम विरहासक्ति ।

यद्यपि सूर ने इन सभी का वर्णन किया है किन्तु उनका मन सख्य, वात्सन्य रूप, कान्त, और तन्मया सक्ति में अधिकरमा है । तन्मयासक्ति में उन्होंने--

ठर में माखन चोर गड़े ।
अब कैसेहूँ निकसत नाहि, उधौ, तिरछै
ह्वै जु अड़े ।।

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप के प्रति सूर का ध्यान बराबर बना रहा । सिद्धान्त पक्ष की स्थापना उन्होंने बल्लभा चार्य के शुद्धाद्वैत वाद काध्यान रखा और ब्रह्म जीव आदि के वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथा स्थान उल्लेख किया ।

इतना ही नहीं ईश्वर माया जीव काल, और सृष्टि, रचना का विशिष्ट और विशद वर्णन करके उन्होंने अपने भक्ति सिद्धान्तो को इतना पुष्ट एवं परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक ओर गहन दार्शनिकता आ गई तथा दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, कोमलता, भावुकता, और तल्लीनता की भी कमी नहीं है ।

उनके भक्तिकाल के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान रख एवं दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला है । कि उनकी भक्ति पद्धति का प्रमुख मार्ग पुष्टि मार्गीय है । जिसका सिद्धान्त भगवदनुग्रह ही था ।

इसी को केन्द्र मानकर उन्होंने वात्सल्य प्रेम आदि की व्यंजना में अभिव्यक्ति व्यक्त की । भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होने भगवत्कृपा, को भगवत्प्रेम में परिणित कर दिया है । भगवतप्रेम को ही भक्ति मानकर मेरूदण्ड के रूप में स्थिति किया है ।

निर्गुण सिन्धु में अवगाहन को साधारण जन के लिये कठिन मानकर सूरदास ने सगुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है । "कौन काज या निर्गुण सो चिरजीव बहु कान्ह हमारे" । पुष्टि मार्ग में स्वीकृत रागानुगा भक्ति ही उन्हे इष्ट रही है ।

सूर की भक्ति में वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य-भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है । व्यक्तिगत सम्बन्धों की निकटता एवं अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य-भाव में जो उत्कर्ष है । वह अन्य प्रकार की भक्ति से परिलक्षित नहीं होता ।

विभिन्न लीलाओं के प्रसंग माधुर्य भाव को स्पष्ट करने में जिसमें भगवान की असीम शक्ति पतिरूप में वरण करके गोपियाँ सुखी होती है ।

गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अप्राकृत दोनों रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणित स्वाभा प्रवृति पर निर्भर है ।

यही सूर के साहित्य एवं दर्शन शैली की विशेषता है ।

सूर का दर्शन एवं विचारधारा:-

मध्य कालीन वैष्णव भक्त कवियों में सूरदास का स्थान शीर्ष पर है । उन्होंने भक्ति को भव्य एवं उदात्त रूपों चित्रों स्वरूप चित्रित करते हुये श्रृंगार और माधुर्य से मंडित एवं सारगर्भित किया । तथा सम्प्रदायिक भक्ति सिद्धान्तो के पूर्ण आस्था रखकर काव्यकी व्यापकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है । लोक परलोक की चिन्ता के साथ "रास-राग रंजन" का अतुल वैभव जुटाकर वे अमर काव्य भक्ति के रुप में नवनीत तो है ही जो भवत्रस्य विपन्न जन को स्निग्ध और शान्त करता हुआ मोहन में लीन करने की अदभुत क्षमता रखता है । सूर के साहित्य में ज्ञान, भक्ति और धर्म का समन्वय सूर के दार्शनिक विचारधारा की एक युक्ति है ।

सूरदास ने सगुण भक्ति का आधार ग्रहण कर भक्त के मानवीय क्लेशों का परित्राण कर माधुर्य भक्ति की असीम शक्ति को स्वीकार कर समस्त मानव समाज को रागमय बनाने की सरस कल्पना को काव्य दर्शन के माध्यम में पिरोकर संजोया है । तथा मानव-मानव के मध्य रागात्मक सम्बन्धों जैसा मौसल कल्पना को साकार किया है ।

धार्मिक भावना, धर्म और सम्प्रदाय पंथ सम्प्रदायों में सहजयान, नाथ पंथ, निर्गुण पंथ आदि का परिवेश सूर के समय का था जिसका उन्होंने अपेक्षा वृत्ति की स्पष्ट व्यंजना के रूप में अपने पदों में उभारा है ।

चौपरी जगत मड़े जुग बीते ।
गुन पांसा क्रम अंक चारि गति सारि
न कबहूँ जीते ।

मातुगर्भ थिति पाई पिता दस मास उदर से डारे ।
जनम छठी छक और बधाई हुयी छक हुई पनि पारे ।।
मुण्डन करन वेध वृ., बन्ध, विवाह गमन गृह वासी ।
आलिंगन चुम्बन परिरंभन नख छति चारू परचार छीती।।

नाथ पंथीय योगियों के जमघटों एवं शास्त्र विहीन योग साधनाओं का विद्रोह, सूफी संतो की साधना पद्धति की गति और सभी निर्गुणियों की धार्मिकता को स्वीकोरोक्ति प्रदान करते हुये सूर ने सहज और बौद्धायन को निर्मूल हुयी आवाज को नया आयाम देकर एवं कृष्ण चरित्र का आश्रय पाकर सगुण भक्ति पद्धति की स्थापना एवं आदर्शों का वैचित्य निर्धारण एवं लोक रंजन लीलाओ का गायन अपने पदो के माध्यम से नूतन साहित्य में संस्कारित किया । उन्होंने शास्त्र को परिभाषित कर प्रेरणा (स्प्रिट) को पदों में पिरोया। प्रेम को साधन और साध्य मानकर चलने से ही सूर साहित्य काव्य दर्शन साधना और सम्प्रदाय सभी स्थानों में समान रूप से समाहित हुआ है । कृष्ण के सगुणरूप का भागवत के आधार पर लीला वर्णन करके जनमानस को आनन्द के ज्वार से उद्वेलित किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सूर की वाणी में श्याम की मोहनी मूर्ति और संगीत भारती एक साथ साकार हो उठी है ।

प्रेम के द्वारा भवसागर तर जाने का उपदेश सूर के काव्य दर्शन का व्यंजक और माधुर्य उद्घोष के रूप में मुखरित हुआ है ।

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम तें पराहि पहिये ।
प्रेम बंध्यो प्रेम को जीवन,
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ लइजे ।
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल ।
सांची निश्चय प्रेम को जहि रे मिलै गुपाल ।। (सूरसागर पद)

सूर के दर्शन में निराधार प्रेम का स्थाईयत्व नहीं है । प्रेम का आधार गोपाल सगुण स्वरूप है । योग के रूप में इष्ट की अराधना न करके अलख जगाकर साधना न करे प्रेम दर्शन में नाथ पंथियों या निर्गुण मार्गियों को बारीकियों को निखार कर उन्होंने कर्मकाण्ड की निस्सारता पर जोर दिया है ।

यह उपदेश, कहयो है माधों, करि विचारी सम्मुख है साधो ।
इंगला पिंगला सुषुम्ना नारी, सून्य सहज में बरूहि मुरारी ।।
ब्रह्म भाव करि में सब देख्यों, अलख निरंजन ही को लेखों ।

पदमासन इक मनचित लाखौ, नैनमूदिं अन्तर्गत् ध्याखौ ।
हृदय कमल पर ज्योति प्रकासी, सो अच्युत अविगत अविनाशी ।।

याहि प्रकार विषय तम तरिये, योग पंथ क्रम क्रम अनुसरिये ।।

दार्शनिक भावना:-

भक्ति शब्द मज सेवायाम् धातु से बना है । जिसमें क्तिन प्रत्यय लगाकर बनाया गया है जिसका अर्थ भगवान की सेवा प्रकार है ।

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप है । अमृत स्वरूपा है ।

मनुष्य के लिये सर्व श्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान श्री कृष्ण में भक्ति हो ।

भगवान की ऐसी भक्ति जिसमें कामना न हो और नित्य निरंतर बनी रहे । ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृत-कृत्य हो जाता है ।

स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्ति रमोक्षजे ।
अहेतुक्य प्रतिहतापया ऽऽत्मा संप्रसीदति ।।[1]

अर्थात् भगवान में महात्म पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है । मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है । ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम तथा अन्य सांसारिक वस्तुओं में वैराग्य, इसके दो प्रमुख स्वरूप हैं । परन्तु श्रीमद् भागवत में हमें तीन भक्ति स्वरूप क्रमशः विशुद्ध भक्ति, नवधा भक्ति व प्रेमा भक्ति ही अभिलक्षित होती है । भक्ति को योग, ज्ञान, कर्म व धर्म स्वाध्याय, तप, दान, आदि से ऊपर माना है ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेव वविधाऽर्जुन ।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपः ।।[2]

श्रीमद् भागवत की विशेषता है कि इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म का अविष्कार किया गया है । तथा भक्ति साहित्य ज्ञान का निरूपण हुआ है । ज्ञान की अंतरंग साधना में श्रवण, मनन और निषिध्यानासन को विशेष स्थान देने पर भी--

"न तत्रोपायसहस्त्रांणांम्" कहकर इसे श्रेष्ठ एवं प्रमुख बनाया गया है ।

---

1. भागवत धर्म कथा, 1-2-6.
2. भगवत गीता, 11/14.

मन की एकाग्रता के द्वारा अराधना एवं भगवान में परानुवित भक्ति का साध्य पक्ष है । सात्विकी, राजसी, तामसी, एवं निर्गुण प्रमुख दो भेद हैं। इसमें प्रमुख ग्यारह आसक्तियाँ हैं जिसमें सूरदास ने दास्यासक्ति एवं सख्यासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति का विशेष विवेचन किया है । उद्धव, अर्जुन एवं व्रज नारियाँ पल विरहासक्ति भक्त के स्वरूप है ।

भक्ति स्वत: पूर्ण है वह साधन नहीं साध्य है । व्यापार नहीं लक्ष्य है उसकी प्राप्ति सभी कामनाओं की इतिश्री है । हरि का भक्त स्वयं हरि स्वरूप हो जाता है । वह ब्रह्म एवं महादेव से भी महान है ।

हरि के जन सब ते अधिकारी
ब्रह्मा महादेव तै को बढ़ तिनकी सेवा .
कहु न सुधारी ।[1]

एवं-

हरि के जन की अति ठकुराई
महाराज रिषि राज महामुनि देखत रहे लजाई ।[2]

भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति पाति की क्षुद्र परिधि से परिमेय नहीं होता है । सूरदास ने विनय भाव को भी अपने इष्ट के लिये पदों में पिरोया है । जो भक्ति का श्रेष्ठतम स्वरूप है । सूरदास जी का दैन्य भाव अपनी पराकाष्ठा का अनितरिम स्वरूप है । इनके पदों में तनमयता एवं मार्मिकता का विशेष रूप अभिलक्षित होता है । सूर का सन्त मत जिसका मुख्याधार जाति-पाति का विरोध है भक्त सम्भावना प्रदर्शित करता है ।

---

1. सूर सागर, पद- 55
2. सूर सागर, पद- 63-88.

जाँति-पाँति कोऊ पूछत नाहीं
श्रीपति के दरबार[1]

मनुष्य के पुरूषार्थ के सभी साधन सकल उपाय तंत्र, जंत्र, मंत्र, और ब्रह्म के उद्यमाण्ड व्यर्थ है । केवल आराधना ही अन्तिम लक्ष्य है ।

करी गोपाल की सब होई ।
जो अपनो पुरूषार्थ मानत अति झूठों ही सोइ ।
साधन मंत्र तंत्र, उद्याम बल ये सब डारौ धोइ ।।[2]

सूर ने भक्ति मार्ग में योग मार्ग का अतिक्रमण कर वैराग्य को भक्ति का साधन रूप में दर्शाया है । जो योगमार्गीय साधुओं की निन्दा करते हैं ।

भक्ति बिना जो कृपा न करते तौ है आस न करती ।
साधु शक्ति शील सद्रूप पुरूष कौ उपजत बहु उच्यरतौ ।।
औधड़ असत कुचीलीन सौ मिलि, माया जाल में तौते ।[3]

पुष्टि मार्गीय स्वरूप में दीक्षित होने से सूर सम्प्रदाय के सन्त मतो का आदर एवं भावना के परम लक्ष्य को भी अभिगृहीत किया है । भक्ति के साध्य रूप को ही महत्व देकर प्रेम उनकी साध्य रूपा का आधार होकर वैधा भक्ति के रूप में उद्घाटित होता है । शास्त्र पद्धति के अनुरूप साधन स्वरूपा भक्ति की ओर भी संकेत किया है ।

---

1. सूरसागर, पद- 1791.
2. सूरसागर, पद- 262,
3. सूरसागर, पद-203.

भक्ति के स्वरूपों में उन्होंने त्रिगुण भक्ति और सुधार भक्ति के साथ-साथ प्रेमाभक्ति पर विशेष बल देकर भक्तों को साकाम भक्ति एवं अनन्य भक्ति रूपी कोटियों का भी निरूपण किया है । कर्म ज्ञान और योग के सम्बन्ध में कर्मयोगी भक्तयोगी और ज्ञान योगी भक्ति का विश्लेषण मिलता है ।

पहले और दूसरे प्रकार के भक्तों का सम्बन्ध क्रमशः लीला एवं मन से है । परन्तु जब भक्त का चित्त चिद विषयक रति भाव सान्द्र हो जाता है । तब वह प्रेम रूप में प्रेमा भक्ति को सख्य एवं वात्सल्य भावों में दर्शाता है । मित्र स्नेह की मधुरिता बाल सुलभ चापल्य प्रेरित क्षुद्र विवाद और क्रीड़ाओं को तन्मयता के साथ कर्तव्य की भावना का गौरव अधिक आस्वाद हो उठता है । वात्सल्य भाव की भक्ति को हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं । जो सूर के माता हृदय की संगति प्रदान करता है । वात्सल्य भाव की भक्ति का सर्वशुद्ध भाव ही जिसमें न विरक्ति की भावना है और न इन्द्रिय सुख की कामना ।

सूर का विरह, संयोग से भी अधिक उज्जवल एवं प्रबल है मधुरा भक्ति की आश्रय स्वरूप गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन है कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान योग साधन इन्हे निरर्थक प्रतीत होता है । सूर की प्रेमा भक्ति में यह माधुर्य भाव निहित है । इस भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरि कृपा एवं सत्संग ही है ।

भक्ति पद्धति:-

भक्ति के प्रमुख संचालक, भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास ने गोस्वामी बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर जिस भक्ति पद्धति का अनुसरण किया है । वह वैष्णव सम्प्रदाय में सख्य भाव की कोटि की अनय भक्ति कहीं जाती है । उपासक अपनी अनन्य निष्ठा भावना से भगवान कृष्ण के पुनीत चरणों में लीन होकर विषय वासना रूपी आसक्ति से मुँह फेर कर सब कुछ विस्मित कर देता है ।

सूरदास जी ने निर्गुण साधना पद्धति को स्वीकार कर कुछ पदों की रचना की है ।

नैननि निरखि श्याम स्वरूप ।
रहयो घट-घट व्यापि सोइ जोति रूप अनूप ।।[1]

माधव नैकु हटकौ गाई
भ्रमत निसि वासर अपथ पथ अगहिं-गहिं नहिं जाइ[2] ।।

झूठी ही सांची सी लागति असि माया सो जानि ।

सूरदास जी ने बाह्य साधना (सगुण सेवा पूजा) की अपेक्षा आन्तरिक साधना (निर्गुण, ध्यान, उपासना) को अधिक महत्व दिया है । यह उनके बहिर्मुखी वृत्ति का परिचायक तो है ही साथ ही साथ जगत रूपी भावना का विस्तार उन्हें दृष्टिगत होने लगा है । और वे सगुण रूप में ईश्वर लीला गुणगान करने लगे हैं ।

पुष्टि मार्गीय दारू भख के पदों को संजोकर भक्ति के रूप में विनय भक्ति साधना की भूमिकाएँ भी स्वीकार की हैं । दीनता मानभर्षता, भवदर्शन, भर्त्सना, अश्वासन मनोराज्य और विचारण ये सभी स्थितियों का उन्होंने अपने साहित्य के दैन्य आपथ कर्पण का समाहीकरण किया है ।

---

1. सूर सागर, पद- 213
2. सूर सागर, पद- 56
3. सूर सागर, पद- 381

"प्रभु हैं । सब पतितन को टीको"
सब पतित सब धैस चारिके, हौ तो जानत हीकौं ।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता में बल्लभाचार्य का आदेश धारण कर जो सूर ही के ऐसो काहें को घिघियात हो, कछु भगवत लीला का वर्णन करो"

वैष्णव सम्प्रदाय की समस्त लीलाओं का वर्णन ।क्या जिसमें तान पूरे के साथ गायन करके पदों को अभिरंजित किया है । यही भगवान का अनुग्रह है या पोषण है ।

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासना सब हीं भ्रम विसरायो ।
श्री बल्लभ गुरू तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ ।।

पुष्टि मार्गीय भक्ति के दार्शनिक प्रपंचो को सूर ने भली-भाँति समझा और उसे काव्य भाव भूमि पर प्रेषणीय बनाकर सख्य भक्ति का सहारा देकर अराध्य देव के प्रति समर्पित किया और इष्ट को अगम अगोचर नहीं रहने दिया । सख्य और दाम्पत्य भाव के मध्य वात्सल्य की सेतु पर प्रेमा सक्ति की सम्पूर्ण श्रृंखला पूर्ण हो जाती है । वात्सल्य भाव एक परिपारिक सर्वजन-संवेद्य-भाव का स्वरूप है ।

विनय भक्ति का आधार दास्य भाव में अपनी हीनता और भगवान की उच्चता को प्रदर्शित करती है । जो कि अत्यन्त ही उच्च कोटि की होती है । कि भक्त कभी भी भगवान के समकक्ष या तुल्य नहीं है । सकता है । परन्तु लीला वर्णन इससे भिन्न कोटि का है । भारतीय भगवत दर्शन पद्धति में भगवत लीला की कल्पना सर्वथा अभिनव और उच्च है । अगम अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर की लीला का वर्णन संभव भी कैसे हो सकता है । भगवान अनुभैवैक्यगम्य है । वह स्वयं आनन्द स्वरूप व अमृतरूप है । रस रूप है फिर लीला क्यों करते

हैं । बल्लभ सम्प्रदाय में इस लीला की महत्ता बताते हुये कहा गया है कि भगवत्साक्षाकार बड़ी बात नहीं है बात है भगवत्प्रेम । एकान्त प्रेम ही भक्ति है ।

बल्लभाचार्य ने लीला के महात्म वर्णन करते हुये अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में लिखा है ।

लीला विशिष्ठ मेव शुद्धं परमं ब्रह्म न कदाचित ।
तद्रहित इत्यार्थः । ते च (लीलाया:) नित्य त्वम ।

अथवा लीला कैवल्य और मुक्ति से बढ़कर परम मुक्ति है । (परमामुक्तिरीति)।[1]

नहिं लीलायां किचिंत प्रयो जनमास्ति ।
लीलायां एवं प्रयोजना त्वात ।"

लीला वर्णन के लिए भगवान के कान्ताभाव या दास्याभाव का ग्रहण आवश्यक है । कान्ताभाव के लिए राधाप्रेम की साधना अनिवार्य रूप से की गई है । श्री बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में लीला वर्णन द्वारा राधा कृष्ण की आराधना को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ । सूर ने विनय भाव और दास्य भाव की भक्ति को तज कर सख्यभाव की भक्ति के क्षेत्र में अवतरण किया है ।

दर्शन का मेरू दण्ड पुष्टि मार्गीय भक्ति है ही पोषणं तदनुग्रह इसे स्पष्ट करने के लिए साधक और साध्य का रूप दर्शाया गया है ।

जा पर दीना नाथ ढरै ।

---

1. ब्रह्म सूत्र, (भाष्य) - 273.

सोई कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करैं ।
सूर पतिति तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै ।

भगवत कृपा में ज्ञान योग कम यहाँ तक कि उपासना का भी अतिक्रमण हो जाता है ।

सूरदास जी के दर्शन का रहस्यः-

सूर का लीला गान, पुष्टि मार्गीय धारा का सर्वांगीण अनुक्रम के साथ-साथ उनके निखिल वाड॰मय का बीज तत्व भी है ।

"युक्तो हरेर नुदिनं परिचर्य भासौ श्री कृष्ण माप
नियंत दशमस्य पाठात ।"[1]

के अनुसार आचार्य भगवत्सेवा और दशम के पाठ का ही उपदेश देते हैं ।

अराध्य को मूर्तिमान भक्ति का रस मानकर नित्य अराधना करने वालों के लिये ग्रंथ की फल श्रुति सहस्मानामों द्वारा नित्य, नियम, निर्वाह का संक्षिप्त मार्ग बतलाती है । यही भगवत लीलाओं का अनुकथन है ।

निरोध लीला भाश्रित्य भवत्यै भक्ते निरूपितम ।
बाल लीला नामा पाठात् श्री कृष्णों प्रेम जायते ।।
आसक्तिः प्रौठ लीलायाँ नाम पाठातं भविष्यति।।

---

1. पद्य पु०उ०ख०भा०भा०- 4/8।

व्यसनं श्री कृष्ण चरणे राज लीलाभि धानतः ।
तस्मान्नामत्रयं जास्यं भक्ति प्राप्तीच्छुभिः सदा ।।[1]

भक्ति की प्रारम्भिक तीन दशाओं में प्रेम आसक्ति और व्यसन दशाओं का पूर्ण परिपाक ही है । पुष्टि मार्गीय रूप में अराध्य श्री गोवर्धन नाथ जी के स्वरूप की भक्ति, सेवा कीर्तन लाक्षित है । श्रीमद् भागवद महा-पुराण को आचार्य ने पुरूषोत्तम सहस्त्र नामो से सहस्माविधि ॥लाक्षाविधि॥ पदों के द्वारा अन्तर साक्ष्य के आधार पर रचित करने की पूरी चेष्टा की है ।

करम जोग पुनि ज्ञान उपासना सब ही भ्रम भरमायौ ।
स्त्री बल्लभ गुरू तत्व सुनायौं, लीला भेद बतायौ ।।
ता दिन तैं हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद ।
ताकौ सार सूर सारावलि, गावत अति आनंद ।।
तब बोले जगदीश जगत गुरू, सुनो सूर मम गाथ ।
तब कृत मम जस जो गावैगे सदा रहे मम साथ ।।

"प्रस्तुत पंक्तियों में अनेक रहस्य भावों को सांकेतिक किया है जो दर्शन का स्वरूप प्रदर्शित करता है ।

॥1॥ कर्म काण्ड ज्ञानोपासनादि साधन प्रेम प्रधान भक्ति योग के बिना भ्रम मात्र है ।

॥2॥ मेरे गुरू आचार्य बल्लभ ने मुझे तत्व श्रवण करा दिया है ।

॥3॥ जिस दिन से उनका ॥गुरूदेव॥ मुझे साक्षात्कार हुआ उसी दिन से मैंने हरि लीला का गान शुरू कर दिया और हरि लीला को मैंने एक लक्ष पदों में बाँधा ।

---

1. श्रीमद् भागवत श्लोक- 21.

§4§ उन्होंने मुझे लीला का रहस्य भी समझा दिया ।

§5§ उसी हरि लीला का सार रूप यही सूर सारावली सूर सागर एवं साहित्य लहरी है ।

§6§ यह सारावली सरस समंतसर लोला का रूप है ।

§7§ इसमें श्रीमुख से इसकी फल श्रुति §महात्म§ का वर्णन किया है ।

स: आश्रय: परं ब्रह्म परमात्येति शब्दते ।[1]
कृष्ण सुमन्त्र सुद्ध बनचूरी जिहि जन भरत जिवायो आदि ।

सूर ने गुरू तत्व श्रवण करके आश्रय तत्व से तदत्म्य स्थापित कर लील रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया ।

लीला दो प्रकार की है । वास्तवयी और व्यवहारिकी ।

वास्तवयी में स्वसंवेदा वाली प्रत्यका लीला है । भगवोक्तर्ग, विसग दशविधि लीलाएँ स्वसंवेद्य है । उनका लक्ष्य आश्रय §एक मात्र परमतत्व का§ ज्ञान मात्र है । इस दशविधि लीलाओं के रहस्य बिना गुरू कृपा संभव नहीं है । इसी से सूर ने उदभासक्ति किया है । कि—

"श्री बल्लभ गुरू तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ ।"
ताको सार सूर सारावली गावत अति आनन्द ।।

सारावली अन्त: साक्ष्य के आधार पर एक लक्ष पद वेद्य वाले सूरसाग का सार ही है । सूर सागर भगवत लीलानुसारी है । इसी से सारावली भी भगवतानुसारी स्वयं सिद्ध हो जाती है ।

---

1. भागवत, भाग-2/10/7.

पुराण पुरूषो विष्णु: पुरूषोत्तम उच्ययते ।
अष्टा विशंति तत्वाना स्वरूप यत्रवै हरि ।।

की तत्व प्रगट तेहि पाण्ड सवै अष्ट अरू बीस ।

लीलाओं में मान लीला, विहार लीला एवं सुरतान्त वर्णन के लिए पुराणान्तरो ﴾ ब्रह्म वैवर्त, आदि ﴿ का समाश्रय लिया गया है । पुष्टि मार्ग वैश्वानर प्रवर्तित अग्नि मार्ग ﴾प्रेमाग्नि वाला﴿ है । आचार्य बल्लभ वैश्वानरावता है । पर ब्रह्म पुरूषोत्तम से जीवव्यु च्यरित होते ही वियोगाग्नि में पड़ जाता है

वियोग प्रेम लक्षण मति का दृढ ﴾जीवन स्वर﴿ बीज है जो भक्ति साध तत्व है अत: चराचरात्मक सृष्टि वियोगाग्नि से दहयमान हो रही है ।

"स्थितानामर्भवृद्धि पोषनम"

ानुग्रह करने की सूचना को सुमंतरूर लीला कहा गया है । इसके वेदो में चार भेद बनाये गये है । ﴾1﴿ संवत्सर ﴾2﴿ परिवत्सर ﴾3﴿अनुवत्सर ﴾4﴿इड़ाव जो क्रमश: अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा है ।

"गुरू परसाद होत यह दर्शन सरसठ बरस प्रवीन"

जिसमें सरसठ शब्द अपने गुरू द्वारा ﴾तत्व, श्रवण, लीला﴿ का रहस्य दर्शन मिला समझ तथा स्वसंवेद्य लीला का साक्षात दर्शन हुआ ।

बिहार लीला के अन्तरर्गत सूर के दीक्षाकाल गुरू कृपा, लीला रहस्य की अनुभूति सभी का पक्षावत बोध दर्शाया गया है । कृष्ण चरित्र की त्रिविधि लीला का भी यथा क्रम वर्णन आता है । अंतरंग लीलाओं का वर्णन दर्शन शिव कपा से होता है ।

जैसा कि गो लोक की अंतरंग लीलाओं का दर्शन नरसी को शंकर की कृपा से ही प्राप्त हुआ था ।

मान लीला, दान लीला, बन लीला, कुज लीला आदि का समावेश एवं सभी गुरू प्रसाद का ही स्वरूप है । गुरू शिष्यों में अनन्त श्री कृष्ण की लीला ओं, रहस्यों को दर्शन में सहज अनुभेव है । माधुर्य भावना और निकुंज रहस्यों का माध्यम दर्शनि में सूर सफल है ।

"खंजन नैन रूप रसह माते ।।[1]"

इस प्रकार सूर आध्यात्मिक कारूणिक एवं वैचित्यक संस्कारों में अनूठे प्रायोगिक दृष्टिकोणों से सफल एवं अनूठे है ।

सूर का दर्शन एक अध्यात्म की ऊँचाई का विस्तृत रूप बनकर उनके ग्रंथो में सहज ही ऊभरा है। जोकि युग की परिण्ति कही जायेगी काव्य का निखार दर्शन की प्रभुश्रता ही है । जो विचारो को परिपक्व बनाने में सफल है ।

काव्य की दार्शनिकता:-

कविता कवि के व्यक्तित्व के सारभूत एवं मूल अंशो की अभिव्यक्ति है कविता की आत्मा तो कवि के हृदय में उसके अनूठे व्यक्तित्व को माध्यम से निर्मित होता है । यही सर्जन निश्चिय ही अभिव्यक्ति का रूप है ।

---

1. सारावली, पद-67.

शैव सिद्धान्त में प्रक्षेपण रूप कहलाता है, कविता कवि हृदय का स्वतः स्फूर्त समुन्छलन है जो शैव जगत के रूप का विशेष ढंग से अपना प्रेक्षेपण का माध्यम चुनते है । यह उनका सहज स्वाभाव होता है । जगत के आवरण में छिपे हुये शिव तत्व की प्रत्यभिज्ञा चाहे समान्य जन को अनुभूति कराने पर भी न हो पर भक्त को तो शास्वत रहती है ।

प्रेम के वासना मय रूप में ही मूलतः रस लेने वाले अतृप्त वासना से निर्मित व्यक्तित्व वाले कवियों का दिव्य प्रेम कविताओं के अन्तः स्थल में अतृप्त वासना वाला व्यक्ति झाँकता ही रहता है ।

व्यक्ति के मूल भूत अंश का निर्माण व्यक्ति के दर्शन अर्थात उसकी जीवन सम्बन्धी विचारधारा, उसकी जीवन दृष्टि के सामन्जस्य से होता है । दर्शन का जो भी अंश निष्ठा का रूप धारण कर लेता है । वह उसके व्यक्तित्व का मूल अंश कहलाता है ।

दर्शन के इस रूप का वह हृदय से साक्षात्कार करता है । तर्क और चिंतन पर प्रतिष्ठित के बल बौद्धिकता का प्रतिबिम्ब मात्र न होकर प्रतीत दृश्य मात्र न होकर वह, दार्शनिकता का आरोप मात्र होती है ।

ये ज्ञाता के व्यक्तित्व के वाध्य अंश मात्र बन पाते है । तथा कालान्तर में इनके मूलभूत तत्वों में परिणित हो जाते हैं । निष्ठा में परिणित जीवन दर्शन ही व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रियाओं को नियंत्रित करता है । यही जीवन दर्शन उस कवि का जीवन संदेश होता है । आरोपित अंश की दार्शनिक दृष्टि या तो कवि के अप्रस्तुत विधान बनकर रह जाती है या वह कवि के जीवन के संदेश में बहुत कम योग दे जाती है ।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल द्वारा मान्य काव्य के स्थायी भाव की ही नही बल्कि उसके शील स्वभाव और मूल भावना का अंश होती है । जो मूल भाव की नियामक शक्ति के रूप में उसके मूलभूत जीवन में निहित रहती है ।

दर्शन के इस उपर्युक्त दोनों स्वरूपों की स्पष्ट धारणा के आधार पर किसी कवि का विवेचन ही उसके काव्य की दार्शनिकता बन जाती है । यही उसकी दार्शनिक व्याख्या है ।

कवि के वास्तविक दर्शन का निर्णय लें तभी संभव है जब उसके जीवन दर्शन का हृदय से साक्षात्कार किया जाये । तथा चिन्तन के द्वारा उसके भावों को निष्ठा में परवर्तित किया जाये ।

बौद्धिक चिंतन से प्राप्त तत्व तो उसके काव्य की उपर्युक्त सामग्री या अप्रस्तुत विधान योजना बन कर रह जाती है । सूर का दर्शन हृदय से अनुभूत तत्वों के भावो का विवेचन मात्र ही दार्शनिकता का निरूपण है ।

दर्शन शब्द जो जीवन दृष्टि का सामान्य शाब्दिक अर्थ है भौतिक, अध्यात्मिक व्यवहारिक आदि किसी भी विशेषता से विभूषित हो सकता है ।

जीवन और जगत के परमार्थ के स्वरूप तथा मानक जीवन के परम लक्ष्य का चिंतन और मनन और साक्षात्कार ही दर्शन है । चरम सत्य एवं चरम लक्ष्य की विभिन्न धाणायें ही विभिन्न दर्शनों की मूल आधार मिति हैं ।

अध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपना कर सूर दार्शनिकता की ओर बढ़े हैं उनकी जीवन दृष्टि भक्ति परम है परन्तु उनकी भक्ति भावना दार्शनिक एवं अध्यात्मिक कोटि की है । अध्यात्मिक मूलक भक्ति की अनुभूति को स्वर देकर उसे सर नेही साकार रूप प्रदान किया है ।

दार्शनिक भक्तों के चार स्वरूप, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी है । सूर का दर्शन मूलतः भक्ति दर्शन कहा जा सकता है । उनकी भक्ति भावना दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है । सूर में जगत और परम तत्व कृष्ण के भेद की सजगता नहीं है । उन्हे जगत पर कृष्ण का आरोप सा प्रतीत नहीं होता है ।

उन्हे तो "हरिदेव जगत जग देव हरि" की अनुभूति होती है । सारा जगत भगवान की लीला ही है । कृष्ण ने अपने आपको गोप गोपिकाओं एवं जगत तथा अन्य जीवात्माओं के रूप में लीला के लिए प्रकट किया है । सब कुछ कृष्ण रूप है । कुछ भी कृष्ण से भिन्न नहीं है । कृष्ण ही रास करते हैं प्रतिबिम्बति होते है । सारा जगत भगवान के सत स्वरूप का आविभार्व ही है । यही सृष्टि है । इससे जगत अपने व्यवहारिक रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता के आधार पर ही सत्य नहीं माना जा सकता है । इससे तो द्वैत हो जाता है । पर सूर द्वैतवादी नहीं है । कृष्ण के अतिरिक्त इसके तत्व की परमार्थिक सत्ता उनको मान्य ही नहीं है । सूर को जगत कृष्ण रूप में प्रतीत होता है । तथा सृष्टि का निर्धारण एवं कर्ता धर्ता वही है ।

सूर का यह ज्ञान बौद्धिक चिंतन मनन और विश्लेषण का परिणाम नहीं है अपितु उनकी साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति ही है । इसमें सूर ने न तो जगत के सतत्व की ओर नउसके मिथ्यातत्व की अपितु "हरि देव जगत जगदेव हरि" की निष्ठा में परिभाषित किया है । "जागे ही ते जायरी" जैसे वाक्यों द्वारा ज्ञान की साधना के महत्व को स्वीकार करने की भी आवश्यकता भी सूर ने नहीं की हैं ।

सूर ने कृष्ण जीवन लीला का हृदय से साक्षात्कार किया है । कृष्ण के अनन्य प्रेम से वे अभेद स्वरूपी भूमि पर पहुँचे है । उद्धव गोपियों को जिस परम

तत्व को प्राप्त करने के लिए जिस अवस्था तक पहुँचने के लिए ज्ञान और योग का उपदेश देते हैं । वह तो गोपियों को प्रेम के द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है । उन्हे परम तत्व और कृष्ण को एक मानने के लिए तर्क और ज्ञान का सहारा नहीं लेना पड़ता है । यह अनुभूति तो गोपियों को स्वत: ही भाव के माध्यम से जाग गई है । इसमें उन्हे ज्ञानात्मक दृष्टि की चेतना की आवश्यकता नही हुयी पर इस अवस्था को हम ज्ञान के निषेध की अवस्था नहीं कह सकते हैं । यह सूफी सन्तों की सी बहुत कुछ ज्ञान निरपेक्ष, केवल प्रेम के द्वारा प्राप्त प्रेमी और प्रेयसी के जीव और परमात्मा के अभेद की अनुभूति मात्र तो नहीं ही है । जो भारतीय भक्ति भिन्न प्रतीत होती है । उसमें सूफियों की सी रहस्यात्मकता एवं अध्यात्मिकता तो है ही साथ-साथ उसका अपना अलग दृश्य स्वरूप भी है । भक्ति और ज्ञान द्वारा प्राप्त परम तत्व का साक्षात्कार रहस्यवादी अनुभूति की अपेक्षा अधिक यथार्थ एवं प्रत्यक्ष के अधिक समीप्य होता है । इस अनुभूति की लौकिकता की सजीवता दीप्ति होती है । भारतीय ज्ञान और प्रेम दोनों ही सूफियों के ज्ञान और प्रेम से कुछ भेद रखते है । इसी अवस्था का ज्ञानी भक्त और भक्त ज्ञानी यही सूर के लिये सत्य प्रतीत होता है । जिसमें अनुराग विराग की चैतन्यता के साथ अह्लाद की अनुभूति लीला स्वरूप में दृष्टव्य है ।

सूर के दर्शन में परम तत्व और कृष्ण के अद्वैत तथा जगत एवं कृष्ण के अद्वय की अनुभूति को दार्शनिक चिंतन की कसौटी पर उतारा जा सकता है । इस प्रकार सूर को ज्ञानी भक्त की अपेक्षा प्रेमी भक्त कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है । परन्तु यह ज्ञन विरोधी अथवा ज्ञान की अपेक्षा करने वाली भक्ति नही है । नही सूर की अनुभूति को दार्शनिक अथवा भक्ति भावना का उद्गार कहना ही पर्याप्त नहीं है यह अध्यात्मिक तत्वो के विश्लेषण और रहस्य वाद का अपूर्व समन्वय भी है ।

इसीलिये सूर कवि के साथ-साथ दार्शनिक भी है । इसीलिये इनके पदों में प्रधान्य तो विशेष (दर्शन) का दर्शन होता है ।

सूर के ज्ञान और अनुभूति के साधन दर्शनों के द्वारा प्रमाणिकता की आवश्यकता नहीं है । इनकी प्रतिभा में वास्तिवकता की झलक दिखाई देती है ।

कवि जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है तथा जिन मत एवं वादों और उनके द्वारा प्रतिपादित तत्वों के बौद्धिक स्वरूपों का उपयोग करता है वे उसके काव्य के मूल स्वरूप नहीं होते हैं ।

कवि की दार्शनिकता का तात्पर्य सम्पूर्ण प्रमाणों और तर्कों के द्वारा प्रतिपाद्य तथा उसके अनन्तः स्थल में प्रवाहित परम तत्व की अनुभूति का साक्षात्कार तथा उसका रसास्वादन दृष्टव्य होता है ।

वातसल्य आदि का तर्क तो जगत के विषय में दार्शनिकता की दृष्टिकोण से निम्न है । इसका असली क्षेत्र तो इसके ऊपर उठने के बाद ही शुरू होता है । परन्तु कवि का क्षेत्र प्रारम्भ से ही शुरू हो जाता है । सूर की दार्शनिक अनुभूति भी उसी कोटि की है । सूर अपने मत का प्रतिपादन करने वाले तर्क जाल से कहीं भी उलझे नहीं है । भक्त अपनी दार्शनिकता का बौद्धिक चिंतन एवं तर्कों की अभिव्यक्ति न करके भावुकता से ही उसका साक्षात्कार एवं रसास्वादन करता है ।

सूर में कवि एवं भक्ति के भक्त रूप का सुन्दर समन्वय है और यह कहना भी असमीचीन नहीं है कि सूर में भक्त का सुन्दर एवं कवि के सम्प्रदायिक मतवादों के बौद्धिक विश्लेषण तथा तर्कों द्वारा स्थापित करने की आकांक्षा से ऊपर उठे हुये विशुद्ध व्यक्तियों का शुद्ध मिश्रत रूप है ।

इसीलिये सूर हमें खण्डन मण्डन तथा सिद्धान्त निरूपण की बौद्धिक पद्धति का बहुत कम दर्शाने में विश्वास करते हैं । सूर में प्रमुखत: अध्यात्मका अनुभव एवं साक्षात्कार होता है ।

कवि सूरसागर एवं सारावली की अध्यात्मिक ऊँचाईयों का परिचय करता हुआ, पूर्णत: तन्मय हो जाता है । उनके कवि एवं अध्यात्म हृदय की दार्शनिक विवशता उनमें शुद्ध द्वैतवाद एवं पुष्टि मार्गीय भक्ति में ढली हुयी प्रतीत होती है । जिससे उनमें लीला की स्फुरता हुयी है ।

सूर की दार्शनिक एवं अध्यात्मिक अनुभूति का मूल स्त्रोत और उप-जीव्या भी भागवत पुराण ही है जो प्रेरणा स्त्रोत बनकर उभरा है ।

क्षर और अक्षर ब्रह्म से परे जो पुरूषोत्तम रूप भगवान श्री कृष्ण है । उनकी लीला का साक्षात्कार के फलस्वरूप लीला के रस का आस्वादन लेकर उसमें तल्लीन हो जाना ही सूर की वास्तविक दार्शनिकता ही है ।

मानव के रूप में भगवान की लीला का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करना ही सूर का उद्देश्य है सूर कृष्ण की मानवीय लीलाओं में उनके अलौकिक रूप के दर्शन करते है । अलौकिक पुरूष जो सगुण और निर्गुण दोनों है और दोनों से परे भी हैं । वही परम तत्व ब्रज की सामान्य क्रीड़ाओं का चरित नायक भी है । यह ज्ञान तो गोपियों का अनायास ही है । इस परम तत्व में से वे सहज रूप से ही आभासित हो तन्मय रहतीं है । परन्तु उद्धव को ज्ञान का अहंकार छूट जाना तथा प्रेम की तन्मयता जग जाने के उपरान्त ही गोपियों द्वारा समझ में आना होता है । मूलत: परम तत्व के सम्बन्ध में सूर की दार्शनिक मान्यता यही है सूर के कृष्ण इष्ट में विरूद्ध धर्माश्रयत्व है और इसका दिग्दर्शन वे लौकिक और अलौकिक दो

स्तरों द्वारा करा देते हैं । सूर की दृष्टि से यह सम्पूर्ण जगत भगवान का रास ही है । इसमें उन्होंने लीला पुरूषोत्तम भगवान कृष्ण तथा उनकी ही अह्लाद भी शक्ति भगवती राधा के नित्य रास के दर्शन स्वाभाविक रूप में उतारे हैं ।

अनुग्रह प्राप्त कुछ जीवात्मायें ही गोपिकाएँ हैं, जो संसार के सम्पूर्ण सम्बन्धों से ऊपर उठकर भगवान के इस नित्य रास में भाग लेती है और रास-रस से अप्लावित होती है । सभी भावों वात्सल्य, दाम्पत्य, माधुर्य आदि रति भावों एवं उत्साह आदि के द्वारा भगवदाश्रम के कलुष कल्त्रस दूर हो जाना एवं विधि निषेद की मर्यादा से ऊपर उठकर उन्होंने रूप को जगत में व्याप्त देखा है । तथा उसी में तन्मय रहे हैं । यही उसी जीवन की आखिरी परिणित एवं परम लक्ष्य है । एवं इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन रामानुरागा भक्ति ही मानतें हैं ।

उनके लिये प्रेम ही महान पुरूषार्थ है । रामानुरागा भक्ति भी भगवान के अनुग्रह से ही प्राप्ति होती है । यही दृष्टि मार्गीय है"यंत्र एवं वृणुते तेन लम्पः इसी में सूर की पूर्ण निष्ठा है ।

सूर की साधना में ज्ञान भक्ति कर्म और प्रेम का पूर्ण सामन्जस्य मिलता है । ये सभी भक्ति एवं प्रेम के रूप में पर्यवसित होकर नयें परवेक्ष्य दिखाई पड़ता है बल्लभा चार्य जी ने इन सभी को ही प्रेम रूप कहा है । ज्ञानी भक्ति का लक्ष्य सद ज्ञता प्राप्त करना है तथाउसमें ज्ञानी और कर्म योगी के अहंकार का लवलेश मात्र भ नहीं रहता है ।

दृष्ट की प्रसन्नता ही सर्व प्रमुखता बन जाती है । ज्ञान और कर्म उसकी भक्ति के सहज अंश बनकर उसी में विलीन हो जाते है तथा उनकी चेतना एवं अहम

इसमें तीनों का समन्वय साक्षात्कार भी सहज हो जाता है । इसे वे कृष्ण का अनुग्रह ही मानते है । यही सूर की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता का विशिष्ट उद्देश्य एवं सारगर्भित रूप है ।

ज्ञान निष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत ।
कर्म निष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तः प्रसीदति ।
भक्ति निष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति ।।[1]

सूर ने परब्रह्म ईश्वर जीव जगत सम्बन्धी सभी दार्शनिक एवं अध्यात्मि सम्बन्धों का तत्वो द्वारा हृदय से साक्षात्कार किया है । उन्हें इनका बौद्धिक ज्ञ मात्र नहीं है । हृदय से विश्लेषण उनकी तार्किकता का नवीन वैचारिक संगठन है

सूर की गोपियाँ भी ज्ञान वैराग्य, सगुण, निर्गुण, सम्बन्धी अपने मतों का बौद्धिक रूप से प्रतिपादन करती है । उसी में भगवान (इष्ट) के परम तत्व क ब्रह्मत्व का सहज निरूपण है । जो सिद्धियों, ज्ञान और योग के सम्मिलन से प्राप्त है । जो सहज प्रेम ही है । उनमें संयोग वियोग का अन्तर ही नहीं है । उनके वियोग में भी संयोग एवं संयोग में वियोग उद्भाषित होता है ।

यहीं सूर की रहस्यात्मक प्रवृति है । इनके "सूरसार" ग्रंथ में इनके पदों में इस विरह की व्यथा के आपार परावार की लहर है । सूर की गोपियाँ (भक्त सगुण, निर्गुण में समन्वयता का विशेष परिचायक है । जो समयानुसार परात्पर अवस्था का भी साक्षात्कार करती है ऐसे विरूद्धमाश्रय भगवान कृष्ण का वे शाश्वत प्रेम और भक्ति से साक्षात्कार करती है ।

---

1. सूर साहित्य लहरी, पृ0- 19.

उनके साक्षात्कार की भूमिका में ज्ञान, वैराग्य भक्ति कर्म, सगुण निर्गुण जगत के मिथ्या तत्व एवं सत्यत्व आदि का अंतर विरोध नहीं रहता है ।

वेद उपनिषद जस कहैं, निर्गुण ही बतावै ।
सोइ सगुन होय मन्द के दैव ही बँधावै ।।

आदि सनातन हरि अविनासी,
निर्गुण सगुण धरेत्तन होई,

अविगत आदि अनंत अनूपम अलक एक अविनाशी ।
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरूषोत्तम नित निज लोक विलासी ।।

खण्डन मण्डन से ऊपर उठकर उन्होंने वास्तविक अध्यात्म की अनुभूति का दर्शन पिरोया है । अनुभूति से ही भक्ति, ज्ञान, कर्म, दर्शन, अध्यात्म, ए रहस्यानुभूति का अपूर्व संवन्वय झलकता है । या लाक्षित होता है ।

सूर के कृष्ण सगुण निगुर्ण पुरूषोत्तम परात्पर पर ब्रह्म ही है । वे जीवन की विभिन्न वासंनाओं की परितृप्ति के लिये अपनी लीला के द्वारा विभिन्न रूपों में अविमूर्त होते हैं । पर यह उनका अविकृत परिणाम मात्र है ।

आविर्भाव तिरोभाव रूप की लीला है । जगत है ।

इस प्रकार के सूर जगत को कृष्ण रूप ही देखते है । इनके जीवन में लौकिक और अध्यात्मिक स्तरों के किसी परिभाषित परमार्थिक भेदों की तुलसी की तरह सजग चेतना नहीं है । यही कारण है । कि सूर अध्यात्मिकता के

लौकिक जीवन में ही कर लेते हैं । लौकिक और अलौकिक मानव और ईश्वर जगत और ब्रह्म एवं विधि और निषेध में सभी के अध्यात्मिक स्तर पर समन्वय हो जाना ही सूर को दार्शनिक दृष्टि की संवेदना ही है ।

सूर में सम्प्रदायिक आग्रह नहीं है । वे सभी मतो, वादों से ऊपर है यही उनके दार्शनिकता की विशेषता है । उसमें अनुभूति के स्तर पर अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैत वाद एवं भक्ति, ज्ञान, में तात्विक अन्तर की सजग चेतना न होकर समन्वयता का अनूठा संगम है ।

इस दृष्टि से सूर शुद्धाद्वैतवादी एवं पुष्टि मार्गीय है तथा इनके तत्वों का उनके हृदय एवं काव्य पर विशिष्ट प्रभाव है । फिर भी सूर साहित्य में अनेक स्थानों पर जगत, जीव, ईश्वर मोक्ष, भक्ति आदि दार्शनिक तत्वों के स्वरूपों का बौद्धिक एवं शास्त्रीय स्तरो द्वारा निरूपण कर तुलनात्मक स्वरूप का अनूठा निरूपण उपलब्ध होता है । यही निरूपण सूर की दार्शनिकता में गौण महत्व की देन है ।

प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त:-

महा कवि सूरदास जी शुद्धाद्वैत वाद की परम्परा में थे । शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक विष्णु स्वामी माने जाते है । यद्यपि महा कवि बल्लभाचार्य जी ने ही शुद्धाद्वैत की रूप रेखा प्रस्तुत है ।

शंकर का अद्वैत में माया (मिथ्या) को निकाल कर द्वैत शुरू किया गया इसे इसीलिये शुद्धाद्वैत कहा गया है । ब्रह्म माया से आलिप्त है । शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो भेद रूप माने है । निर्गुण जो कि परमार्थक है । ब्रह्म न भोक्ता है । न कर्ता भोक्ता एवं कर्ता स्वरूप तो माया के फलस्वरूप होते हैं ।

सगुण रूप माया में भासित होने वाला व्यवहारिक रूप ही है । यह उपाधि विशिष्ठा अविद्यात्मक रूप है । बल्लभा चार्य के अनुसार ब्रह्म सर्वधर्मा, सर्वकर्मा एवं सर्व भोक्ता है । वह उभयलिंग युक्त सगुण और निर्गुण दोनों में व्याप्त है ।

आचरज हरि दास अतुल बल आनन्द दाइन ।[1]
तिहि मारग बल्लभ विदित पृथु पधित पराइन ।।

माया सम्बन्ध रहितं शुद्ध मित्युच्यते बुधैः ।[2]
कार्य-करण-रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ।।

शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं । §1§ आधि दैविक परब्रह्म §2§ आध्यात्मिक ब्रह्म अक्षर ब्रह्म §3§ आधि भौतिक जगत ब्रह्म ।

ब्रह्म सच्चिदानंद अथवा सदानंद है । वह परब्रह्म कृष्ण ही है । श्री कृष्ण धर्मी कहे जाते है । क्योंकि वह सभी धर्मों के आश्रय दाता है । आश्रय रूप है । इसमें कृष्ण बालक होने पर भी पूर्ण रसिक है । निरपेक्ष होते हुये भी भक्ति सापेक्ष है । स्व वश है तथापि अन्य भक्त वश भी है । आत्माराम भी है। और रमणकर्ता भी है । पूर्ण रूप भी है । और कामार्त भी स्वतंत्र है। पर सब-रसिकों के पराधीन भी ।

---

1. भक्तमाल, पद-77.

2. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्लोक-19.

अक्षर ब्रह्म, पर ब्रह्म का सच्चिदानंद रूप ही है । परन्तु इसमें आनन्द की मात्रा आपेक्षाकृत न्यून है । इस न्यूनता का कारण जब भगवान को रमण करने की इच्छा होती है । तो सतचित आनन्द से किसी एक का आविर्भाव करके प्रकृति या जीव की उपपत्ति करते हैं । इस व्यपार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रमुख होती है । माया की नहीं । अक्षर ब्रह्म के सत से जगत चित से जीव और आनन्द से अन्तरयामी का आविर्भाव होता है ।

पर ब्रह्म का भौतिक स्वरूप ही जगत है । ब्रह्म के सरूप (सतरूप) से 28 तत्वों को लेकर जगत स्वरूपा बनता है । अतः यह स्वरूप भी ब्रह्म के समान ही सत्य है । पर जगत और संसार एक नहीं है । जगत तो अठ्ठाइस तत्वों का एक रूप है । और संसार अविध्यात्मक "मैं और मेरा" का मिथ्या रूप ज्ञान द्वारा जीव की मुक्ति का सांसारिक समयावली का शाश्वत सत्य प्रलक्षित होता है ।

प्रलय के समय जगत ब्रह्म में समा जाता है । अतः इसका तिरोभाव हो जाता है । परन्तु नाश नहीं ।

महा कवि सूर ने अपनी भक्ति भावना में बल्लभ का दर्शन यथार्थ रूप में उतारा जिसका कि सिद्धान्त निम्न है ।

आचार्य बल्लभ का शुद्धाद्वैत-वाद:-

वेदान्त के पाँच सिद्धान्तों में (सम्प्रदायों में) बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत वाद का विशेष महत्व है । इसके आदि प्रवर्तक विष्णु स्वामी माने जाते हैं ।[1]

---

1. भारतीय दर्शन, डॉ0 बलदेव प्रसाद उपाध्याय, छठा संस्करण, पृ0-505

बल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर अणुभाष्य, भागवत सिद्धान्त प्रतिपादक, तत्वदीय निबन्ध सुवोधनी टीका । भागवत सूक्ष्म टीका पूर्व मीमांसा भाष्य तथा सिद्धान्त मुक्तावली आदि ग्रंथों की रचना की ।[1]

तात्त्विक दृष्टि से उनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत वाद अथवा ब्रह्म या विकृत परिणाम वाद कहलाता है । और साधनात्मक अथवा व्यवहार की दृष्टि से पुष्टिमार्ग, बल्लभ ने ब्रह्म को माया से शुद्ध किया । ब्रह्म के माया से सम्बंध रहित होने के कारण ही इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाया ।[2] यही उनका ब्रह्म वाद है ।[3] जिसके द्वारा जीव और जगत दोनों ब्रह्म रूप और सत्य है ।[4] जो यह भेद दिखायी पड़ता है । वह बुद्धि विकल्प के कारण है । परमार्थतः नहीं । इसी कारण शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म ही जगत का निमित्तोपादान कारण है । ब्रह्म की प्रधानता होने के कारण ही बल्लभ सम्प्रदाय "ब्रह्म वादी कहलाता है ।"

---

1. भारतीय दर्शन, डा० बलदेव प्रसाद उपाध्याय, छठा संस्करण, पृ. -505
2. माया सम्बन्ध रहितं शुद्ध मित्युच्यते बुधैः।
   कार्यकारण रूपम् हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्'।। शु० भा० श्लोक-28,
3. ब्रह्मणो निरूपणार्थवादः वाति रागं कथा यत्र
   तादृशो विचारः
   अंय मुख्यो ब्रह्मवादः
   ----- सुबोधनी टीकाकारिका.
4. सर्व ब्रह्मात्मकं विश्वमिदना वौद्वयदपुरः ।
   सर्व शब्देन या वद्धि दृष्टिं श्रुतमदो जगत ।।
   वोध्यते तेन, सर्व हि ब्रह्म रूपं सनातनम् ।
   कार्यरूप ब्रह्मं रूपास्य ब्रह्मैव स्यातु कारणम् ।।
   § शु० भा० § 5-6
5. ज्ञानादं विकल्प बुद्धि वस्तु बाध्यते न स्वरूपतः
   ---- तत्वदीप निबन्ध-, 91.

पोषण सिद्धान्त:-

लीला वर्णन द्वारा भक्ति के द्वितीय सोपान पर पहुँचते ही सूर के जीवन में विचित्र परिवर्तन उपस्थिति हुआ । भगवान कृष्ण के लीला रूप को हृदयगंम कर कुष्ण के जीवन पक्ष को बदलाव देकर उनकी सोच में अनुभूति का नया संचारण होने लगा । उन्हे ऐसा आभास होने लगा जैसे उसके भगवान सदा सर्वदा उनके पास ही और जिस लीला का वे अपने तानपूरे से गायन करते थे उस लीला के अनुरूप वे भक्त के समक्ष आ जातें है । यही भगवान का अनुग्रह या पोषण है । इस पोषण को सम्प्रदायिक सिद्धान्त में दो प्रकार का बताया गया है । एक साधन रूप और दूसरा साध्य रूप । साधन भक्ति में भक्त को प्रयत्न शील रहना पड़ता है । साध्य रूप में भक्ति के द्वारा भक्त सब कुछ विसर्जि करके भगवान की शरण में अपने आप को छोड़ देता है । क्रीड़ा शील बालक जैसे-थक कर अन्त में अपनी माँ की गोद में ही विश्राम पाता है । वैसे ही जीव भगवान की शरण में पुष्टि (कृपा) प्राप्त करके सफल हो जाता है । पुष्टि मार्गीय भक्ति के दार्शनिक प्रपंच को सूर ने भली-भाँति समझा था । और समझ कर उसे काव्य की भावभूमि पर प्रेषजीव बनाने का प्रयत्न कियाथा ।[1]

सूर दास ने सख्य भाव का आँचल पकड़ते ही अपने अराध्य देव को अगम अगोचर नहीं माना । गोप ग्वालों के रूप में संख्य भाव का वर्णन यथार्थ में सख्य भक्ति भाव का प्रस्फुटन है । गोपियों की विरह भावना का चित्रण उस सख्य भाव से एक सोढ़ी आगे बढ़ा कर कांता भाव या दाम्पत्य भाव की झाँकी प्रस्तुत की है ।[2]

---

1. सूरदास की वार्ता (अग्रवाल प्रेस) मथुरा, प्रसंग-1 पृ0-10
2. सूर की वार्ता, वही पृ0-72.

सख्य और दाम्पत्य भाव के बीच में एक वहीं कड़ी है । जो दोनो को जोड़ कर प्रेमा भक्ति की सम्पूर्ण श्रृंखला तैयार कर देती है । वह है । वात्सल्य भाव की भक्ति ।[1] वात्सल्य भाव एक परिवारिक सर्वजन-संवेध भाव है ।

विनय भक्ति का आधार है । दास्याभाव-दास्य भाव में अपनी हीनता और भगवान की उच्यता इस कोटि की होती है । कि भक्त कभी भगवान के समक्ष या तुल्य नहीं हो पाता है । लीला वर्णन इससे भिन्न कोटि का है । किन्तु मूल प्रश्न यह है कि लीला क्या है? भारतीय भक्ति पद्धति में भागवत लीला की कल्पना सर्वथा अभिनव और उच्च है । अगम अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर की लीला का वर्णन सम्भव भी कैसे हो सकता है । भगवान अनुभवैक गम्य है । वह स्वयं आनन्द स्वरूप है । अमृतरूप है । सरसब रूप है । फिर वे लीला क्यों करते हैं । और उस लीला का वर्णन करके भक्त जन प्रमुदित कैसे होते है? बल्लभ चार्य ने लीला का महात्म वर्णन करते हुये अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में लिखा है ।

"लीला विशिष्ट भेव शुद्धं परमं ब्रह्म न कदाचित तद्रहितं इत्यार्थः । ते च (लीलायाः) नित्यत्वम्"[2] ।

अथवा, "लीला एवं कैवल्यम् जीवानांमुक्ति रूपम् तंत्र प्रवेश नित्यत्वम"।[3]

---

1. सूरदास की वार्ता, (अग्रवाल प्रेस) मथुरा, प्रसंग-1 पृ0-102.
2. सूरसागर, पद- 103
3. वही. पद- 108

अर्थात् लीला कैवल्य और मुक्ति से बढ़कर परम मुक्ति है । वे आगे लीला का प्रायोजन कहते हैं "नहि" लीलायामं किंचित् प्रयोजनामस्ति लीलायां एवं प्रयोजन त्वात" ।

अर्थात्, लीला का कोई वाह्य प्रयोजन नही लीला का प्रयोजन लीला ही है । भगवान का स्वाभाव ही लीला ही है । लीला वर्णन के लिए कान्ताभाव या दाम्पत्य भाव का ग्रहण करना आवश्यक है । कान्ताभाव के लिए ही राधा प्रेम की संकल्पना की गई है । अत: वैष्णव सम्प्रदाय में राधा भाव का प्रेम ही परम भक्ति है ।

यथाव्यित: सूर की भक्ति पद्धति का मेरू दण्ड पुष्टि मार्गीय भक्ति ही है, पहले भगवान की भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है । पोषण तदनुग्रंह:। जैसा कि पहले कहा गया है । कि पोषण के भाव स्पष्ट करने के लिए दो रूप एक साधन दूसरा साध्य अपनाया गया है ।

> जा पर दीना नाथ ढरै
> सोइ कुलीन बेड़ो सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै ।
> सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै ।। (7)

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिये सूर की भक्ति पद्धति में अनुग्रह का ही प्रधान्य है । ज्ञान योग कर्म यहाँ तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है ।

पुष्ट मार्गीय समुदाय में भागवत की विशेष मान्यता है । और उन्होंने इसे चौथा प्रस्थान माना है । सूरदास जी इस सम्प्रदाय में दीक्षित थे और वार्ता साहित्य से यह पता चलता है कि रहस्यात्मक स्वरूप को बल्लभाचार्य जी ने पुरु-

षोत्तम के सहस्त्रायों को सुनाकर सूरदास जी के हृदय में श्री भागवत की लीला का स्मरण कराया था । तो "बौद्ध श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ पुरूषोत्तम सहस्त्रानामें सुनाऔं । तब सिगरे श्रीमद भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी सो सूरदास प्रथम स्कंध भागवत सो द्वादश स्कध पर्यन्त वर्णन किये तामें अनेक दा लीला मान लीला आदि का पूर्ण वर्णन मिलता है ।

पुष्टि मार्ग:-

पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन श्री बल्लभाचार्य जी ने (वि॰सं॰ 1535-1587) में किया था । सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य बल्लभा चार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही शुद्धाद्वैत ब्रह्म वाद और अतिकृत परिणाम वाद कहलाया अद्वैत वादियों के अनुसार निर्गुण में माया आदि के आवरण द्वारा सगुण रूप प्रतीत होता है । ब्रह्म की उभय रूपता स्वाभाविक है । उसमें विरोधी धर्मो की स्थिति उसमें महिमा के कारण है ।

आचार्य ने ब्रह्म को सत-चित आनन्द स्वरूप माना है । उनकी दृष्टि में जीव भी ब्रह्म ही है । किन्तु उसमें केवल सतचित है । इन्ही दो तत्वों का समावेश ही आनन्द का रूप है । ब्रह्म, जीव और जगत तीनों को ब्रह्म रूप जानने का सिद्धान्त ब्रह्मवाद कहलाया जिस प्रकार कनक बिना विकार स्वरूप कुण्डल के रूप में परिणित हो जाता है । इसी कारण इस दर्शन का एक नाम अविकृत परिणाम वाद भी है । ब्रह्म की शक्ति अनन्त है । वे गुणातीत होने पर भी जगत के कर्ता है ।

"वे सब कुछ हो सकते है । अर्थात् उनमें विरूद्ध धर्मों का समावेश हो सकता है ।

स्त्री बल्लभ गुरू तत्व सुनायों लीला भेद बतायौ ।[1]

भगवान की जब लीला या विलास की इच्छा होती है । तब उसमें वे स्वयं जीव रूप में पदार्पण करके जीव में ऐश्वर्य यश, श्री, ज्ञान और आनन्द का अंश विरोहित करते हैं । इसी से वह दीन हीन विपत्तियों का आस्पद अविधा ग्रस्त और दुखी होता है । ब्रह्म और जीव अंशा पूर्ण सम्बन्ध है । ब्रह्म अंशी है । जीव अंश ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है । जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग की जीव भी नित्य और सनातन है । वह ब्रह्म का चित अंशहै । जीवों की कई कोटियाँ है । अविधा से सम्बद्ध होने के पूर्व जीव शुद्ध रहता है । अविधा से सम्बद्ध जीव संसारी है । भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने पर आनन्द अंश मुक्त होने पर जीव से मुक्त हो जाता है ।

यह जगत ब्रह्म का ही रूपान्तर है ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत रूप में अविर्भूत होता है । जगत को न उपपत्ति होती है । न विनाश । उसका केवल आविर्भाव होता या तिरोभाव । आचार्य बल्लभ के अनुसार जगत और संसार अनित्य । जगत ब्रह्म का ही अनित्व परिणाम । अधिकृत है । संसार अविद्या ग्रस्त जीव की मानकी सृष्टि है । विद्या के उदय होने पर जल जीव का अध्यास मिट जाता है तो संसार का नाश हो जाता है ।

भगवान अनुग्रह पूर्वक जीव को अपने समान ही आनन्द मय बना देते हैं । इस आनन्द रूपी स्थिति की प्राप्ति ही मुक्ति है । मुक्ति की प्राप्ति के लिये भक्ति ही एक मात्र साधन है भक्ति दो प्रकार की होती है । ‖1‖ पुष्टि मार्गीय ‖2‖ मर्यादा भक्ति ।

---

1. सूरसागर, पद-61

मर्यादा भक्ति में फल की आशा बनी रहती है । किन्तु पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार से फल की आशा नहीं रहती है । मर्यादा भक्ति भगवान के चरणा बिंद की भक्ति है । किन्तु पुष्टि भगवान के मुखार बिन्द की ।

मर्यादा दैन्य भाव की भक्ति है पुष्टि कान्ता भाव की ।

पुष्टि चार प्रकार की होती है ।

§1§ प्रवाह §2§ मर्यादा §3§ पुष्टि पुष्टि §4§ शुद्ध पुष्टि

प्रवाह के अनुसार भक्त संसार में रहते हुये भगवान की भक्ति करता है । मर्यादा के अनुसार वह संसार के समस्त दुःखों से वितर रहकर कीर्तन आदि द्वारा भगवान का स्मरण करता है । पुष्टि पुष्टि में भगवान का अनुग्रह प्राप्त करता है । तथा साधना लीन रहता है । शुद्ध पुष्टि में भक्त भगवान की लीलाओं पर अपना मानसिक तदात्म्य स्थापित कर लेता है । तथा पूर्णतः भगवान पर आश्रित हो जाता है । पुष्टि भक्ति की यह सर्वोच्च स्थिति है । इसी को प्राप्ति बल्लभ सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य है ।

आचार्य बल्लभ के मतानुसार माया के तीन रूप हैं अविधा माया, विद्या माया और शक्ति स्वरूपा माया ।

अविधा माया जीव को आत्म विस्मृत की स्थिति में डाल देती है । वह अविधा के कारण मोह ग्रस्त होकर अपने चित्त को भूल जाता है । विद्या, माया, इसके विपरीति अज्ञान नाश भी है । वह जीव के मोहान्धकार को दूर करके उसके शुद्ध रूप का बोध कराती है । शक्ति स्वरूपा माया जगत कारण भूत भगवत शक्ति ही है । इसे योग माया भी कहा गया है ।

---

1. कलेक्टिड वर्क्स ऑव सर आर0 जी0 भंडारकर वॉल्यूम-4, पेज-113.

अतः सूर तत्व चिन्तक दार्शनिक न होकर सच्चे भक्त है । अतः सू में आचार्य बल्लभ की मान्यताएँ ज्यों की त्यों अनूदित होकर आ सकता है

सूर दास ने पुष्टि शब्द का प्रयोग कदाचित नहीं किया है । प्रभु दयाल मित्तल ने दो एक ऐसे पदों को जरूर उद्धृत किया है । जिसमें पुष्टि शब्द प्रयुक्त है । किन्तु पदों की प्रमाणिकता संदिग्ध है ।

पुष्टि मार्ग के जहाज होते हुये भी सूर ने पुष्टिऔर उसके प्रकारों का विवेचन नहीं किया है । किन्तु उसमें निहित भावना अनेक पदों में व्यक्त हुयी है ।

"जा पर दीना नाथ ढरै" ।
जाको दीना नाथ निवासै ।।
हरि को कृपा जा पर होई-।।

आदि ऐसे अनेक पदों में हरि के अनुग्रह को सर्वाधिक महत्व दिया गया है ।

गोपियों का व्यक्तित्व पुष्टि मार्गीय साधना के अनुसार किया गया है । पुष्टि मार्गीय भक्त अपने आप को पूर्णतः भगवान पर छोड़ देता है । विरहणी गोपियों की स्थिति भी ऐसी ही होती है । उन्हे अपने अनन्य प्रेम पर विश्वास रहता है । संसार के वे समस्त साधनों को त्याग कर मात्र प्रेम के बल पर भगवान को वश में कर लेतीं है ।

कृष्ण का पर ब्रह्म, उनका विरूद्धधर्मत्व तथा जीव और जगत का अंश रूपत्व भी सूर को मान्य है । दशम स्कंध में प्रारम्भ में वे कहते हैं ।

आदि सनातन, हरि अविनाशी ।
सदा निरंतर घरघर वासी ।।
पूरन ब्रह्म पुरान बखाने ।
चतुरानन शिव अनन्त न जानै ।
गुन गन अगम निगम नहि जावै ।
ताहि जसौदा गोद खिलावै ।।[1]

अन्य उदाहरण के रुप में स्पष्ट है कि ब्रह्म के अलावा जल थल में कोई नहीं है ।

"कीट ब्रह्म प्रसन्न जल-थल इनहि
तैं यह मण्ड ।[2]
जल थल मैं कोउ और न बियौ ।
दुष्टनि बंधि सन्तन को सुख दियौ ।[3]

इसके द्वारा जगत की ब्रह्ममयता सिद्ध होती है । सूर ने अक्षर ब्रह्म का भी प्रचुर वर्णनकिया है ।

"अक्षर अच्युत अविकार है ।
निराकार है जोइ "
आदि अन्त नहि जानियत आदि सन्त
प्रभु सोइ ।।[4]

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध पद-621 (सभा संस्करण)
2. सूरसागर, दशम स्कन्ध पद-1603
3. वही. पद-1606
4. वही. पद-1175

सूर श्याम तुम अन्तर्यामी बेद उपनिषद भावें ।।[1]

सूर सारावली में स्पष्ट रूप से सकताभाव के सकल तत्व "ब्रम्हाण्ड देव माया, काल प्रकृति । पुरूष, श्री पति नारायण आदि सभी को गोपाल कृष्ण का अंश माना है ।

"सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव मुनि माया[2]
सब विधि काल ।।"
प्रकृति पुरूष श्री पति नारायण सब हैं अस गोपाल ।

सूर ने विधा और अविधामाया का भेद भी स्वीकार किया है । सूर सागर के प्रबल स्कंध में कई पद उद्धृत है ।

"माधौ जू यह मेरी इक गाय"
माधौ नकु हटकौ गाइ हरीतुम[3]
माया को वियो गयो ।।"

आदि पदों में अविद्या का ही वर्णन किया है । विद्या माया अज्ञान के अंधकार दूर करने वाली है । भगवान के अनुग्रह से विधा का उदय मिट जाता है । तथा जीव का अध्यास मिट जाता है ।

"नमों नमों हे कृपा निधान ।
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारै

---

1. सूरसागर दशम स्कन्ध पद- 1613
2. वही. द्वितीय सं0- पद- 33§376§
3. सूर सारावली पद- 177
4. सूरसागर प्रथम स्कंध- 117

मिटि गयौ तम अज्ञान"

मोहनिसा कौ लेस रहयों नहि भयो विवेक विहान ।

आतम रूप सकल घट दर स्यौं,उदय कियौ रवि ज्ञान

मैं मेरी अब रही न मेरे,

छुटयौ देह अभिमान ।।

सूर ने भगवान की शक्ति स्वरूपा माया के रूप में राधा की प्रतिष्ठा की है । बल्लभाचार्य ने राधा की चर्या नहीं की थी । उन्होंने--

"या" जगत्करण भूता भगवच्छक्ति सा
योग माया" । यही कहा था ।

बल्लभ सम्प्रदाय में राधा का प्रवेश विठ्ठल नाथ जी के समय हुआ । राधा भगवान की अल्हादनी शक्ति है । सूर ने कृष्ण की राधा की अभिन्नता का वर्णन करके उन्हें पुरूष प्रकृति के रूप में उपस्थिति किया है ।

दशम स्कंध में वे राधा कृष्ण का दर्शन एवं उनके विभिन्न स्वरूपों को दर्शाते है ।

बृजंहि बसैं आपुहिं बिसरायौ ।

प्रकृति पुरूष एकहि कर जानहु, बातनि

भेद करायौ ।

---

1. द्वितीय स्कंध-पद- 33(376)

द्वैव तन जीव एक हम दोऊ सुख
कारन उप जायौ ।
ब्रह्म रूप द्वितीया नाहि कोऊ,
तब मन मिया जनायौ ।[1]

उपर्युक्त पद से बल्लभाचार्य के ब्रह्म वाद की सृष्टि की पुष्टि होती है । यह सब कुछ ब्रह्म रूप है । ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । पुरूष और प्रकृति भी मूलत: एक ही तत्व की स्वेच्छया गृहीत दो तत्व रूप है ।

सूरदास को ससार की नश्वरता भी मात्र है । उन्होंने सांसारिक सम्बन्धों को "बादर छौह" धूम धरोहर आदि के समान अस्थिर माना है । यही नहीं वे यह भी कहते हैं कि यह संसार सुवा सेमर ज्यों सुन्दर देख लुभाना।

इस प्रकार सूर सागर के जगत और संसार का सूक्ष्म विभेद भी मिलता है । सूर ने जहाँ संसार को सारहीन माना वही नश्वर भी कह कर ब्रह्म का वि रूप दर्शाया है । वे कहते है ।

नैननि निरखि श्याम स्वरूप ।
रह्यो घट घट व्यापि सोइ जोति रूप अनूप ।।

चरन सप्त पाताल जाके सीस ही आकाश ।
सूर चन्द्र नछत्र पावक सर्व लसु प्रकाश ।। {2}

---

1. सूर सागर दशम स्कंध, पद- 1687 {2305}
2. वही पद-19.

ब्रह्म रूप होने के कारण जगत नित्य है । संसार के स्वरूप वह तत्वत: भिन्न है । उद्धव से भी गोपियों ने कहा था कि भला जिस जगत में भगवान ने अपनी लीला का विस्तार किया था वह असत्य है । ऐसा कैसे हो सकता है इस प्रकार के सम्बन्ध में ब्रह्म, जगत, जीव, संसार, माया पुष्टि तत्व आदि के सम्बन्ध में सूर के विचार प्राय: वैसे ही जैसे आचार्य बल्लभ के ।

सूर ने कृष्ण और शिव (हर) और हरि में अभेद स्थापित किया है । वे कहते हैं--

सखी री नन्द नन्दन देखु
धूरि, धूसरि जटा जूटिल, हरि किये
हर भेषु ।[1]

माता यशोदा का कृष्ण को सुलाते समय राम की कथा का वर्णन समान्जस्य स्थापित करता है ।

सुनि सुत, एक कथा हमहौं प्यारी ।
रावन हरन सिया कै । लीन्हौं सुनि नन्द नन्दन
नींद निवारी ।

यह हर हरि उधर राम के व्यक्तित्वों का सामंन्जस्य सूर की विशिष्ठाता है । साम्प्रदायिक भेदों को मिटाने की प्रभुलता इनके पदो में लाक्षित है ।

---

1. सूर सागर, प्रथम स्कंध, 335.

मातु पितु कोइ नाहि नारी
जगत मिथ्या लाइ
सूर सुख दुख नहिं जाकै, मजौ ताकै जाइ

अर्थात् साधन के क्षेत्र में शुद्धाद्वैत वाद ही पुष्टि मार्ग कहलाया श्रीमद भागवत गीता के अनुसार आचार्य बल्लभ ने भगवान के अनुग्रह अथवा पोषण को पुष्टि मार्ग कहा ।[1]

पुष्टि का प्रधान साधन भक्ति अथवा प्रपत्ति है । जो भगवत्कृपा से प्राप्य है । तत्वदीप निबन्ध में भी उन्होंने कहा है । कि "कृष्णानुग्रह रूपहि पुष्टि" भगवत्कृपा भक्त को संसारिक इक्षु इत रस की कामना ही नहीं रह जाती है ।

आचार्य बल्लभ के सिद्धान्त का आधार प्रस्तानत्रयं तथा श्रीमद भागवत चतुष्ठय का विशेष महत्व दिया गया है । इसके विरूद्ध अन्य ग्रंथो को महत्व नहीं है । आचार्य बल्लभ ने भारत यात्रा एवं दिग्विजय कर भारतीय नाड़ी की परीक्षा ली थी । तत्कालीन भारतीय जीवन की नीरस लीला विधि द्वारा की गई । प्रेम और माधुर्य के द्वारा वे तत्कालीन समाज को रसरिक्त करना चाहते थे । उधर महायानी सम्प्रदाय का विकसित रूप प्रज्ञोपाय समन्वित युगनद्ध रूप में यत्र तत्र दिखाई पड़ता है ।[2]

शैव शाक्तों की श्रंगार रूपी उपासना पद्धतियों को वे देख चुके थे । अतः उन्होंने सामाजिक प्रवृत्तियों के अनुकूल प्रेम लक्षण भक्ति का प्रचार एवं प्रसार करना श्रेयस्कर समझा ।[3] उन्होंने टसेश्वर भगवान कृष्ण के दरबार की सजावट जिस वैभव

---

1. पोषणं तदनुग्रह, भा०पु०- 2/10/14
2. पुष्टि मार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः, अणुभाष्य- 4/4/9

और ऐश्वर्य द्वारा की उसके सामने मुस्लिम शासकों की दरबारी सजावट फीकी लगती थी । हिन्दू जनता को भगवान कृष्ण और उनका दरबार अत्यन्त आकर्षक एवं स्पृहणीय लगा । यह बल्लभाचार्य का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक कौशल ही था । जिससे हिन्दू जनता को संपति एवं मर्यादित रखने में पूर्ण योग मिला ।

सेवा विधि:-

सूर का लीला गान, पुष्टि मार्गीय धारा का सार्वांगीण अनुक्रम के साथ-साथ उनके निखिल वाङ्मय का बीज तत्वहै ।

पुष्टि मार्गीय सेवा विधि में गुरू आश्रय नित्य सेवा विधि और वर्षोत्सव सेवा मुख्य है ।

सूर दास जी अपने गुरू बल्लभाचार्य जी को ही एक मात्र अपना गुरू मानते हैं ।

भरोसा दृढ़ इन चरनम् करौ ।
श्री बल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु, सब
जग मेंहन अंधेरौं ।
साधन और नहीं या कालि में जासो होत निबैरो ।
सूर कहा कहै द्विविधि औधरौ बिना मोल कौ चेरौ ।।

---

1. वेदा: श्रीकृष्ण वाक्यानि, व्यास
सूत्राणि चैवहि
सामाधि भाषा व्यासस्य
प्रमाणं च तच्यतुष्याम एत द्विरूहे
या त्सर्कवम
न तन्मानं कथ्यन ।
त0 दी0नि0 शास्त्रार्थ 7-9

नित्य सेवा विधि में मंगला, श्रंगार ग्वाल, राज भोग वर्षोत्सव सेवाविधि में संवत्सर, गन गौर अक्षयन्तृतीया रथ यात्रा पवित्रा, जन्माष्टमी राधाष्टमी दान साँझी, नवरात्रि रास अन्नकूट गोपाष्टमी और ब्रह्मचर्य तथा ऋतुओं के उत्सव बसंत का खेल, ग्रीष्म का फूल मण्डली, वर्षा का हिंडोरा शरद का रास, हेमन्त का देवोत्थान बोध जी जागरण औरशिविर की होली लोक त्योहार रक्षाबंधन दशहरा, दीपावली और वैदिक पर्व मकर संक्राति । ज्येष्ठा भिषेक जयंतियाँ, राम जयन्ती नृसिंह जयंती, वामन जयंती इन सब पर सूर सागर के पद प्राप्त है ।

सैद्धान्तिक पक्ष के कम किन्तु व्यवहारिक पक्ष के अनेक पदों की शैक्षा दर्शन से है । पुष्टि मार्गीय सेवा विधि के अनुसरण के कारण सूर सागर की श्री कृष्ण लीला का विस्तार भागवत से अधिक हो गया है । उसकी चिंतन धारा में अध्यात्म का बहाव है परन्तु उसमें ज्ञान और प्रेम की बेणी भी अभिगृहीत है । सूर साहित्य अध्यात्मिक होते हुये भी इसीलिए विचारों में बोझिल नहीं है । उसमें रसा नंद और उल्लास की मात्रा अधिक है । उसमें साहित्य पक्ष प्रधान है । अध्यात्म धर्म नैतिकता गौण है ।

सूर सागर की अधिकांश लीलाएँ प्रतीकात्मक है जो लोग लीला की गहराई तक न पहुँच कर सतही दृष्टि से देखते है । उन्हे कृष्ण का चरित्र अनैतिक लगता है । भाव जगत में निमग्न रहने वाले सूर दास को इस बात की चिन्ता न थी कि उनके रस रूप श्री कृष्ण और उनकी रहस्यात्मक लीलाओं के साहित्यक वर्णन की क्या प्रतिक्रिया होगी ।

मुरली को लक्ष्य करके कहे हुये अनेक उपालम्भ, नेत्रों पर किये गये सैकड़ो आरोप कवि की उत्कृष्ठ तल्लीनता और सूक्ष्म पर्यावलोचन के द्योतक हैं ।

व्यष्टि का यह स्पष्टीकरण कि लीलाएँ व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है अनैतिकता को स्वत: मिटा देती है । तथा उसमें आन्तिरिक रहस्य का उद्घाटन हो जाता है । आध्यात्म (दर्शन) एवं नैतिकता का रहस्यात्मक स्कूल पक्ष न लेने से कवि के द्वारा गृहीत प्रसंग मर्यादा के बंधनों को छिन्न-भिन्न कर श्रंगारिकता के क्षेत्र में प्रवेश पाकर भी वर्णनों में पुनीतता अक्षुण्ण रही है । और उसका रहस्य द्विगुण हो गया है । यह सूर के शैली की रोचकता है ।

विवेचना:-

सूर साहित्य में भक्ति और काल का जैसा अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है । वैसा विश्व साहित्य में भक्ति का दर्शन बहुत कम देखने में मिलता है । सूर ने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ज्ञान की सार्थकता भक्ति द्वारा और भक्ति को रसमय कर काव्य का आश्रय अनिवार्य कर दिखाया है ।[1]

सूर साहित्य प्रतिक्रिया या परम्परा का साहित्य न होकर दुर्धर्ष व्यक्तित्व से प्रसूत हृदय के आवेश का रसाक्ति साहित्य है । यदि सूरदास मतवाद से पृथक रह कर पद गायन करते तो शायद उनके आवेश की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाती किन्तु सम्प्रदायिक बंधनों के कारण सूर ने मर्यादा सीमा की रक्षा की इसीलिए उनका अविशक्तत्स स्निग्ध बना रहा ।

सूर दास ने जिस युग में काव्य सृजन किया वह सांस्कृतिक एवं साहित्यक दृष्टि से सूर की कोमल भावनाओं के अनुकूल न था उस युग में धर्माता की पावन भावना, साधना न रहकर दमा और पारणाम्य का रूप धारण करता जा रहा था । शास्त्र विहीन योग साधना के मार्ग प्रवर्तित हो गये थे । एक ओर नाथ

---

1. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

पंथियों का जमघट हो रहा था । दूसरी ओर सूफी संतो की साधना के बेड़े प्रवाहित हो रहे थे । इन दोनों विचारधाराओं के योग से निर्गुण मार्गीय सन्तो का आविर्भाव हुआ । ऐसे समय में कृष्ण चरित्र का आश्रय लेकर सगुण भक्ति पद्धति का आवाह्न कर उनके आदर्शों एवं चरित्रांकन का बीड़ा ही उठाया बल्कि कृष्ण। की रंजक लीलाओं का गायन करके नूतन साहित्य संसारित किया इन्होंने भागवत का हार्द जन सभा द्वारा लोक मानस तक पहुँचा कर उस युग के साहित्य को समृद्ध किया ।[1]

> प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम तें पराहि पंइये ।
> प्रेम बंध्या संसार प्रेम परमारथ लइये ।
> एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल ।
> साँचो निश्चय प्रेम को जहि रे मिलै गुयाल ।[2]

सूर ने निराधार प्रेम की स्थापना नहीं की थी उनके प्रेम को आधार गोपाल कृष्ण के मुद्रा भष्म विपाण मृग चर्म आदि धारण कर पदमासन लगाकर मुद्रित नयन का ध्यान का विधान सूर ने नहीं किया । निरंजन का ध्यान करके अलख जगाना भी सूर के प्रेम साधना में नहीं था ।

सूर ने उद्धव गोपी संवाद में इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया । उनके प्रेम दर्शन में नाथ पंथियों का या निर्गुण भक्तियों की बारीकियाँ नहीं है । इंगला, पिंगला और षटदल कमल के चक्र से दूर कर्म काण्ड की निस्सारिता पर जोर देकर सूर ने कहा है ।-

---

1. डा० विजयेन्द्र स्नातक.
2. सूरसागर- 119

यह उपदेश कहयो हे माधौ

कार विचारि सम्मुख हे साधौ ।

इंगला पिंगला, सुषमना नारी,

सून्य सहज ये बरूहि मुरारी

ब्रह्म भाव करि में सब देख्यो,

अलख निरंजन हे को लेख्यो ।

पदमासन इक मन चित लेखो,

नैन मूँदि अन्तरर्गत ध्यावो ।

हृदय कमल पर ज्योति प्रकासी सो अच्युत अविगत अविनाशी ।

याहि प्रकार विषय तक तरिए योग पंथ कुमकुम अनुसरिये ।।[1]

अतः सूर दास रूढ़ियों को उपेक्षित कर थोथे वाद से अलग विशेष योजना के तहत पद रचित करते थे ।

प्रमुख दार्शनिक तत्व:-

कवि के दर्शन के मुख्य तत्व जीव, ब्रह्म, माया जगत, अविद्या एवं क्रियायें ही है जिसके द्वारा उनके दार्शनिक स्वरूप का निर्धारण होता है ।

गोस्वामी बल्लभा चार्य द्वारा प्रवर्तित एवं पुष्टित यह पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर जिस भक्ति पद्धति का कवि ने अनुसरण किया है । वह वैष्णव सम्प्रदाय के साथ कोटि का है । जो उस समुदाय की अनन्य भक्ति ही होती है । उपासक अपनी अनन्य निष्ठा भाव से भगवान कृष्ण के पुनीत चरणों में लीन होकर सांसारिक विषय वासना से मुँह फेर कर जब सब कुछ विस्तृत कर देता है ।

---

1. सूर सागर- 79.

तभी अनन्यभाव की भक्ति का प्रारम्भ होता है ।

जीवन के प्रथम चरण में उन्होंने निर्गुण साधना पद्धति को स्वीकार किया है । कुछ पदों की रचना की--

नैननि निरखि श्याम स्वरूप ।
रह्यो घर घर व्यापि सोइ जोति रूप अनूप ।।[1]

इसके अलावा माया आदि का भी विस्तृत वर्णन अभिलांक्षित है ।

माधव नैकु हटकौ गाइ
भ्रमत निसि-वासर अपथ पंथ
अगहि-गहिं नहि जाइ ।[2]

झूठी है सौ साँची सी लागति अस माया जो जानि ।[3]

निर्गुण पंथी भक्तों की भाँति सूर भी पहले बाह्य साधनों (सेवा, सगुण, पूजा) की अपेक्षा आन्तिरिक साधनों (निर्गुण ध्यान उपासना) को अधिक समझते थे । बर्हिमुखी वृत्ति का सूर ने प्रारम्भ में खण्डन किया था । परन्तु बाद में बल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर भीतर बाहर सब जगह भावना की लीला का विस्तार उन्हें दृष्टिगत होता है । और वे सगुण रूप में ईश्वर की लीला का गुण गान करने लगे थे । सूर की भक्ति साधना पद्धति का अनुसंधानात्मक निरूपण

---

1. सूरसागर पद-77
2. सूरसागर पद-56
3. सूरसागर पद-381

उनके पदों से ही किया जाता है सूर की रचना दो प्रकार के पदो से किया जा सकता है । इनकी रचना में दो प्रकार के पदों की अभिव्यक्ति होती है । एक विनय भक्ति सम्बन्धी दूसरी सख्य भक्ति सम्बन्धी प्रसिद्ध है कि बल्लभाचार्य से पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने से पहले जब सूरदास गऊघाट में रहते थे तभी वे विनय और दास्य भावों के पद बनाकर अपनी भक्ति भावना का परिचय दिया करते थे ।

विनय भक्ति की साधना वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सात प्रकार की मानी गयी है । दीनता, मानर्षता, भयदर्शन, भत्सनी आश्वासन, मनोराज्य और विचारना ये सात स्थितियाँ हैं इन सातों भूमिकाओं को लक्ष्य करके सूरदास जी ने पदों की रचनायें की । अपने भक्ति भाव की प्रथम स्थिति का अच्छा परिचय दिया है । दैन्य या कार्पण्य भाव का अच्छा परिचय अपने दर्शन में दिया है । तथा बड़े ही विनीत स्वरों से गेयात्मक शैली में उद्घटित कर ग्रंथ को सजाया और संवारा है ।

प्रभु हैं सब पतितन कौटीको ।
और पतित सब धौंस चारिके हौ तो[1]
जानत हीं को ।।

यह पद सूरदास ने प्रभु बल्लभाचार्य के समक्ष गाया तो उसे सुनकर आचार्य ने कहा था-- "जो सूर हवै के ऐसौ काहें को[2] घिघियात हो कछू भगवत लीला का वर्णन करो" इस फटकार को सुनते ही सूर ने विनय के पदों को गाना समाप्त कर कृष्ण की वैष्णव सम्प्रदायिक लीला का गान प्रारम्भ कर दिया ।

---

1. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, विनय पद- 18.
2. सूरसागर सूर साहित्य- पद-49.

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन,
सबही भ्रम बिसरायो ।
श्री बल्लभ गुरू तत्व सुनायौ, लीला
भेद बतायौ ।

इस प्रकार सूर ने चिंतन का नया स्वरूप लेकर दर्शन की भूमिका में प्रवेश किया ।

ब्रह्म:-

बल्लभाचार्य जी के अनुसार ब्रह्म माया से रहित एवं विशुद्ध है । वही जगत का कारण रूप है ।[2] उसके प्राकृत शरीर एवं गुण न होने के कारण ही उसे निराकार तथा निगुर्ण कहा गया है ।[3] निर्गुण, अद्वैत, सच्चिदानंद, ब्रह्म स्वत: सहज कर्ता है और उसका कर्तव्य स्वाभाविक है । मात्रिक नहीं । एक ही अद्वितीय ब्रह्म रमणार्थ दूसरे की इच्छा करता है । उसमें आविर्भाव तिरोभाव की शक्ति प्रलाक्षित है । [4]

शंकराचार्य के अनुसार एक ब्रह्म ही सत्य है और स[illegible] । बल्लभाचार्य ने जीव और जगत को ईश्वरांश मानकर सत्य माना है । उस[illegible] ही जड़ और जीवसृष्टि सच्चिदानंद मानकर सत्य है । सच्चिदानंद ब्रह्म एव सवव्यापक और अंत[illegible] यामी हैं ।

---

1. सूर साहित्य आलोचना--विजयेन्द्र स्नातक.
2. शु0 भा0, 28
3. अणुभाष्य, 3/2/22.

मैं क्षर (जड़ वर्ग) से अतीत हूँ और अक्षर (जीवात्मा) से भी उत्तम हूँ। इसी लिए लोक और वेद में मैं पुरूषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

"यस्मात्क्षर मतीतोऽहमऽक्षारादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके पेदेश्च प्रथितः पुरूषोत्तम ।।[1]

शुद्ध रस स्वरूप पूर्ण पुरूषोत्तम परब्रह्म को सम्प्रदाय में अगणितानन्द कहा गया है। तथा अक्षर ब्रह्म को गणितानंद। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश, अक्षर ब्रह्म के ही गुणावतार है।[2]

प्रमुख ब्रह्म निम्न सरूपों में आया है।

(1) पूर्ण पुरूषोत्तम रस रूप परमब्रह्म कृष्ण
(2) अक्षर ब्रह्म
(3) अन्तर्यामी

परब्रह्म श्री कृष्ण ब्रह्म का आदि दैविक रूप है। पुरूषोत्तम की क्रीडेच्छा से उसी सृष्टि का एवं स्थिति एवं संहार के लिए क्रमशः ब्रह्म, विष्णु, महेश का आविर्भाव होता है।

आचार्य बल्लभ के अनुसार "अद्भुत अलौकिक कर्म करने वाले उस कृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ जिससे जगत का आविर्भाव हुआ जो नाम रूप के भेद से जगत में रमण कर रहा है।[3]

---

1. गीता- 15/18
2. अणुभाष्य 1/1/2 त0दी0नि0सर्व निपर्ण प्रकरण-119.
3. तत्व निबन्ध, पृ0-29

इस प्रकार ब्रह्म का निरूपण बल्लभ के स्वरूपानुसार सूर ने अपने भक्ति एवं वैष्णव सम्प्रदायिक पदों की रचनाओं की है ।

जीव:-

सूरदास ने जीव की मान्यता इस प्रकार की है जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलतें हैं उसी प्रकार जीवन ब्रम्ह के चिदंश से उत्पन्न हुये हैं इस प्रकार ये ब्रह्म के अंश भी है । जीव अण्ड ही शंकर जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप मानते है । पर बल्लभाचार्य के अनुसार वह ज्ञाता है । एवं जीव तीन प्रकार के ही हैं । शुद्ध जीव इसमें आनन्द का तिरोभाव हो जाता है । पर अविद्या से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । संसारी जीव अविद्या से सम्बन्धित होते हैं । मुक्त जीव भाषा से मुक्त ज्ञानी होते है ।

जब ब्रह्म को एक से अनेक होकर रमण करने की इच्छा हुयी तो पूर्ण आनन्द का तिरोधान करके इच्छा मात्र से अक्षर ब्रह्म से साकार सूक्ष्म परिच्छिन्न चित प्रधान असंख्य अंशी रूपी जीव की उत्पत्ति हुयी ।[1]

जीवों में आनन्दांश तिरोधान से उसके ऐश्वर्यादि रूप भी तिरोहित हो जाते हैं । और जीव बंधन में पड़ जाता है ।[2] ऐश्वर्य के दुख, यश के तिरोभाव से हीनता श्री के तिरोभायाव से जन्मादि के दोष ज्ञान के तिरोभाव से देहादि में अहंबुदि और विपरीति ज्ञान तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयासक्ति होती है।[3]

---

1. एकोऽहं बहुस्याम, तै0 उ0 3/6
2. अणुभाष्य, 2/3/43
3. सच्चिदानंद रूपेषुपूर्वयोश्च्यलीनता ।

बंधन ग्रस्त जीव ही संसार में भ्रमित होता है । एवं संसारिक चक्र में घूमता रहता है । इसमें मुक्ति का साधन एक ही है । भगवत भजन । भक्ति द्वारा आनन्दांश ऐश्वर्यादि षटधर्मों का आविर्भाव हो जाता है और जीव मुक्त हो जाता है । इस प्रकार आविर्भाव तिरोभाव द्वारा जड़ जगत जीव, सृष्टि और ब्रह्म में एकता स्थापित की गई है । ब्रह्म का आनन्दांश अन्तरात्मा रूप से प्रत्येक जीव में है इसीलिए भगवान अन्तर्यामी है । ११।

जड़ो जीवस्यैश्वर्यादि व्यवहार स्त्रिधामतः ।
विद्या विधे हरेः शक्ती मायथै व विनिर्मिति ।

बल्लभ ब्रह्मवादी है उनके अनुसार जीव नित्य है ।[2] जीव का चैतन्य गुण है । जो सर्वव्यापी है ।

शंकरा चार्य ने जीव ब्रह्मैक्य बताकर "तत्वमसि" महावाक्य में भाग त्याग लक्षण द्वारा जीव एवं ब्रह्म में तदात्म्य स्थापित किया है किन्तु आचार्य बल्लभ उक्त महावाक्य में गुण के एकत्व को लाक्षित करते हैं ।[3]

बल्लभ मत में तीन प्रकार के जीवों का वर्णन किया गया है । पुष्टि जीव, मर्यादा जीव, और प्रवाही जीव ।[4] भगवत अनुग्रह का सहारा लेकर आश्रय लेकर प्रवाह मार्ग में मर्यादानुसार भगवान के गुणों को जानते हुये कर्म करते हैं । मर्यादा पुष्ट भक्त कहलाते हैं । प्रवाही जीव अज्ञ और दुर्ज्ञ होते हैं । दुर्ज्ञ जीव घोर आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं । उनका मोक्ष कभी नहीं होता है ।

---

1. त०दी०नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ०-92.
2. गीता, 2/20
3. अणुभाष्य, 2/3/29
4. पुष्टि प्रवाह मार्यादा भेद, (षोड़श ग्रंथ संग्रह) ।

शंकर के माया वाद में जीव ब्रह्म ही है ; भ्रम के कारण जीव की अनेकता प्रतिभासित होती है । जीव एवं जगत परमार्थिक नहीं है । व्यवहारिक है । किन्तु बल्लभ ब्रह्म वाद में जीवों की अनेकता है । अवस्था विशेष में ही उनकी पृथकता है । किन्तु ऐवर्यर्वादि गुण से मुक्त होने पर जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं ।

माया:-

माया पर ब्रह्म की शक्ति है । पर यह ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है जैसे सूर्य से चमक (प्रकाश) । यह परब्रह्म के आधीन दो रूपों मे है । व्यामोहिका और करण ।

व्यमोहिका भगवान के चरणों की दासी है इसोलिए भगवान के भक्त के पास जाने में लज्जित होती है । करण माया भगवान की शक्ति है इसके द्वारा भगवान जगत में उत्पत्ति पालन और नाश का कार्य करते हैं ।

सूरदास जो शुद्धद्वैत सिद्धान्तों को यत्र, तत्र प्रकट करते हैं ।

"आदि सनातन एक अनुपम अविगत अल्प अहार ।
ओंकार आदि वेद असुसुहन निर्गुण सगुन अपार

सूरदास के मंगला चरण में भी वे निर्गुण मत को अमान्य नहीं सिद्ध करते केवल कठिन मानकर सगुण मत का अनुमोदन करते हैं ।

"रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु,
निरालम्ब कित धावे ।

---

1. सूर सारावली- 17

सब निधि अगम विचारहि ताते,
सूर सगुन नद गावे ।
प्रभु आत्माराम ही पुरूषोत्तम और
पूर्ण काम है ।
शोभा अमित अपार अखण्डित आप
आत्माराम ।
पूरन ब्र्ह्म प्रकट पुरूषोत्तम सब
विधि पूरण काम[1] ।

पुरूषोत्तम लीला का मर्म सूरसारावली में मिलता है । जब पुरूषोत्तम के नित्य लीला की इच्छा हुयी तो श्रुतियों को दर्शन दिया और ब्रज में उनकी इच्छा पूर्ण करने का वरदान दिया । इसीलिए भगवान तो कृष्ण बनकर अवतरित हुये और श्रुतियाँ गोपी बनकर आई और रास लीला में उनकी कामना की पूर्ति हुयी ।

दरसन दियो कृपाकरि मोहन,
वेगि दियो वरदान
अगम कल्प रमण तब ह्वैह श्री
मुख कहयो बखान ।[2]

सो स्त्रुति रूप होय ब्रहमण्डल,
कीनो रास बिहार ।
नवल कुंज में असं बाहु धरि
कीन्हो केलि अपार ।[3]

---

1. सारावली- 21
2. वही. पद-108

प्रभु की वृन्दावन लीला शाश्वत है साक्षात् गोलोक ही गोकुल में प्रविष्ठ हो गया है । गोपियों के मध्य प्रभु नित्य लीला में मगन रहते हैं ।

जहँ वृन्दावन आदि अजर जहँ
कुंज लता विस्तार ।
तहँ विहरत प्रिय प्रियतम दोऊ,
निगम भृंग गुंजार ।।[1]

शाश्वत रूप जगत है ।
कीन्हो तत्व प्रकट तेही क्षण, सबै,
अष्ट और बीस ।
तिनके नाम कहत कवि सूरज
निर्गुण सबके ईश्न ।।[2]

माया का अविद्यात्मक निरूपण निम्न प्रकार किया है ।

रे मन मूरख जनम गंवायों
यह संसार सुवा-सेमर ज्यों सुन्दरि,
देखि भुलायो ।
चाखन लाग्यों रुई गई उड़ि हाथ
कछु न आयो ।

पुष्टि मार्गीय भक्ति और सेवा पूजा प्रणाली में आद्योपान्त मिलता है । गोप कन्यायें ही जो लोक वेद के भयमुक्त होकर केवल कृष्ण भजती हैं ।

---

1. सारावली, 3
2. सारावली, 7

करके पति सुत मोह बौन कौ-
घर है कहा पठावत ।
कैसो धर्म पाप है कैसो, आस
निरास करावत ।।

हम जानै केवल तुम्हो कै, और वृथा,
संसार ।
सूर श्याम निठुराई तजिपै तजिपै,
बचन विकार ।।

मर्यादा पुष्टि के पालन रूप में वे कुमारिकाएँ है जो गैरी पति और रवि को इसीलिए पूजा करती हैं कि उन्हें कृष्ण पतिरूप में प्राप्त हो इनकी भक्ति स्वीकृपा भाव की है ।

शिव सौ, विनय करति कुमारि,
हमहि होहु दयाल दिन मनि तुम
विदित संसार ।
काम अति तन दहतु दीजै, सूर हरि
भरतार ।।

---

1. सूरसागर- पद- 1021
2. सूरसागर- पद- 767.

तृतीय - अध्याय

तुलसीदास की दार्शनिक विचारधारा :-

तत्कालिक परिस्थितियाँ :-

प्रागैतिहासिक युग से आधुनिकयुग तक मर्यादा पुरूषोत्तम रामचन्द्र के शील एवं सौन्दर्य से मण्डित अलौकिक व्यक्तित्त्व के विभिन्न रूपों ने जन मानस को आकृष्ट किया है। राम काव्य परम्परा के उद्भव और विकास का अनुशीलन करने वाले विद्वानों के अनुसार राम उत्तर वैदिक काल के दिव्य महापुरूष है। वेदों में कुछ स्थानों में राम शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। किन्तु उसका अर्थ दशरथ पुत्र नही अपितु अन्यान्य व्यक्तियों से हैं।[1]

वाल्मीकी रामायण में राम का चरित्र उदात्त और असाधारण गुणो से सम्पन्न दिव्य महापुरूष के रूप में हुआ रामकथा अनुरागमयो भक्ति भावना की दृष्टि से आख्यान अगस्त्य संहिता राघवीय संहिता, रामपूर्व तापनीय उपनिषद आदि धार्मिक ग्रन्थो में उपलब्ध होता है। पुराणो आदि में भी राम कथा के अनेक प्रसंग दृष्टिगत होते है। इनमें परब्रह्म स्वरूप राम की प्रतिष्ठा हुई ।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल सम सामेयिक राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण की दृष्टि से रामकाव्य की रचना के लिये सर्वाधिक उपयुक्त काल था। इस युग में कवि गण मर्यादा पुरूषोत्तम राम की सौर्य शक्ति से सम्बन्धित लोलाओं का गान करके वाह्य शक्तियों के आक्रमण के विरूद्ध राष्ट्र की शोयो हुयो उर्जा को उद्बुद्ध कर सकते थे। किन्तु उन्हे अपने आश्रयदाताओं की

1- रामकथा- उत्पत्ति एवं विकास डा० कामिलबुल्के पृ०- 4, 5

अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा करने से इतना भी अवकाश नही था कि वे राम के लोक रक्षक पावन चरित्र की ओर आकर्षित हो पाते । इस युग की कृतियों में मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में कही-कही रामकथा के रूप में कुछ प्रशंग दृष्टिगत हो जातें है। पृथ्वीराज रासो में दशावतार वर्णन वस्तुतः मंगला चरण के रूप में ही है। इस प्रसंग के अन्तर्गत कवि ने मुक्ति प्रदान करने वाले परब्रह्म के विविध अवतारों का वर्णन किया है ।

राम अवतार से सम्बद्ध छत्तीस छन्दों में परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार, राजा दशरथ घर राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघन के जन्म, रामवन गमन, रामरावणयुद्ध , सीता-उद्धार आदि राम कथा के प्रमुख प्रसंग वर्णित है। रामकथा के ओज एवं माधुर्य को जन-मानस को भाव भूमि पर अधिष्ठित करने का श्रेय भक्तिकालीन भक्त कवियों को ही प्राप्त है। रीतिकालीन राम काव्य के प्रणेताओं की दृष्टि तो अपने समसामयिक कृष्णकाव्य प्रणेताओं की भांति राज दरबारों के ऐश्वर्य से इतनी अधिक अभिभूति हो चुकी थी कि उन्हे राम के लोक रक्षक रूप की अपेक्षा उनके रसिक रूप में अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ " और अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों की मर्यादा को वे विस्मृत करते चले गये ।[1]

भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण भी रामके लोक रक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था ।

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास डा० नगेन्द्र - पृ० 20।

विदेशी शक्तियों के आक्रांत, सामाजिक दृष्टि से वैषम्य पीड़ित धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तांत्रिकों के विविध मत मतान्तरों से ग्रस्त नैराश्य युक्त हिन्दू जनता को राम के असुर- संहारक, शरणागत, प्रतिपालक अलौकिक रूप ने मधुमय सम्बल प्रदान किया। उत्तरी भारत में राम भक्ति के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य रामानन्द को प्राप्त है।

राम काव्य परम्परा के अन्तर्गत "राम रक्षा श्रोत" उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनके शिष्यों ने राम के निर्गुण- निराकार और सगुण साकार रूप की उपाशना के आधार पर रामभक्ति को दो प्रमुख पृथक भाव धाराओं के रूप में पल्लवित किया। निर्गुण मार्गीय कबीर ने कहा -

दशरथ सुत तिहु लोक बखाना,
राम नाम को मरम न जाना।[1]

इस प्रकार राम के सगुण साकार रूप के प्रमुख उपासक तुलसी ने कहा-

जेहि इमि गावहि वेद बुध,
जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित,
कोशलपति भगवान

1- कबीर ग्रंथावली आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0- 48
2- राम चरित मानस तुलसीदास - पृ0 241.

कवि एवं काव्य परिचय

तुलसीदास जी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले संकेत हमें उनके ग्रन्थों " रामचरित मानस " कवितावली" " विनय पत्रिका" "बरवै रामायण " "दोहावली " में मिलतें है। और ये संकेत उनकी आत्म कथा सम्बन्धी झलकि ही नही उपस्थित करते वरन उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालतें है । अनके आपरिचयात्मक उल्लेखों में भी उनके माता गुरू वंश आदि के कथन बाल्यावस्था, युवावस्था वृद्धावस्था, आदि के वर्णनों या संकेतो के रूप में है तुलसी साहित्य के अन्तर्गत पारिवारिक व्यक्तियों में माता के अलावा किसी का नाम नही मिलता है।

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी ।

तुलसि दास हित हिय हुलसी सी ।।[1]

राम का नाम जप करने तथाजन्मते ही इष्ट का स्मरण करने से इनका नाम रामबोला होगया ।

राम को गुलाम नाम राम बोला राख्योराम,

काम यहै नाम द्वै हौ कबहूँ कहत हौ ।।[2]

एवं

साहिब सुजान जिन नाम हूँ को पछकियो ,

रामबोला नाम है गुलाम राम साहि को ।[3]

1- रामचरित मानस

2- विनय पत्रिका

3- कवितावली

बाद में इनका नाम तुलसीदास पड़ गया जो बरवै रामायण से उद्घृत है।

केहि गिनती मह गिनती जश बन घास,
राम जपत मय तुलसी तुलसीदास ।[1]

एवं

रामनाम को कल्प तरू कलि कल्याण निवास,
जो सुमिरत गयो भागते तुलसी तुलसीदास ।

उपर्युक्त पंक्तियों के निरूपण से तुलसी द्वारा राम की महिमा का महत्व पदर्षित होता है जो कि उनकी भक्ति का अभिन्न अंग है नाम के द्वारा इष्ट का ध्यान उसके प्रति समपर्ण की भावना तुलसी की आध्यात्मिक कला ही है।

धर्म की साधना और साहित्य की साधना प्राचीन काल से होती आ रही है। यहां के निति वेत्ता ऋषि, महर्षि, कवि सभी अपनी साधना में जिस जीवन को लक्ष्य करके चलतें रहे है वह है गार्हस्थ जीवन । यह ज्येष्ठ आश्रम माना जाता है। यह ऊँची एवं श्रेष्ठ साधना का अर्भिभूत नियम था। गृह साधना को लौकिक या भौतिक न रख कर उसमें लोकोत्तर साधना की व्यवस्था का सोपान पद्धति पर प्रवत्ति मार्ग की सीमा द्वारा आप से आप निवृत्ति मार्ग पर पहूचने का साकार प्रस्तुत किया है । विदेशी संस्कृति के संसर्ग के कारण मध्य काल में इस व्यवस्था को धक्का लगने लगा समाज में निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म उपनिषद काल से शुरू कर लिये गये थे।

1- बरवै रामायण -

वहा ब्रह्म का मूर्त रूप न लेकर अमूर्त रूप की साधना चल रही थी ब्रह्म की निर्गुण साधना पर दृष्टि रखने से निवृत्ति मार्ग का अधिक उभरने लगा और प्रवृत्ति मार्ग को परित्याग पूर्वक उसकी साधना में लगने का उपदेश दिया जाने लगा । भारतीय प्रवृत्ति मार्ग भक्ति मार्गीय लक्ष्य है । पर निवृत्ति आप हीआप आजाती है। सगुण ब्रह्म का उपासक आप की आप जगत आकर्षण से विरत हो जाता है। भवरस उसे डुबो नही सकता है ।

ज्ञान और भक्ति का या कर्म और भक्ति का इस अर्थ में विरोध है कि ज्ञान और कर्म की साधना कठोर है। और भक्ति की साधना सरल । भक्ति का अनुयायी ज्ञान कर्म के मार्ग से विरत रहता है। वैदिक अथवा भारतीय मार्ग में तीनों की समुचित व्यवस्था थी ।

राम नाम का मरम है जाना,
दशरथ सुत तिहू लोक बखाना ।

यह पूर्ण रूपेण प्रभाव भारतीय समाज में पडने लगा जो अवतार वादी होने के लिये लोग उद्धत होन लगे । भक्ति मार्गीय महात्माओं द्वारा निर्गुण के खण्डन द्वारा रामचरित मानस जैसी रचनाओं का प्रवेश स्वाभाविक हो गया ।

राम सो अवध नृपति सुत सोई ।
की अज अगुन अलख गति कोई ।

महा कवि तुलसीदास युग प्रणेता तो थे ही साथ ही समाज सुधारक एवं युग द्रष्टा जो कि अपनी भक्ति के द्वारा विश्व कवियों के श्रेणी में आते है तुलसी दास, मध्यकाल के उन कवियों में से है जिन्होने अपने बारें में बहुत थोड़ा लिखा है। वह भी बहुत काम का है।

तुलसी का बचपन घोर दरिद्रता एवं असहायावस्था में बीता उन्होने लिखा कि माता पिता ने दुनिया में पैदा करके मुझे त्याग दिया विधाता ने भी मेरे भाल(भाग्य) में कोई भलाई नही लिखी ।

मातु पिता जग जाई तज्यों, विधि हूँ
ना लिखी कछु भाल भलाई ।

जैसे कुटिल कोट को पैदा करके छोड़ दिया जाता है वैसे ही मेरे मा बाप ने मुझे त्याग दिया

तनु जन्यों कुटिता कीट ज्यो तज्यों माता पिता

उपरोक्त पंक्तियों से अस्पष्ट है कि तुलसीदास एक साधारण परिवार से जुड़े है जो बचपन में परित्यक्त रहें तथा उनका जन्म काल वेणी माधव दारा रचित गोसाई चरित और महात्मा रघुबरदास कृत तुलसी चरित के अनुसार 1497 ई0 में हुआ डा0 शिवसिंह सरोज के अनुसार सम्बत 1583 (1526ई0) के लगभग हुआ । परन्तु पं0 रामगुलाम द्विवेदी इनका जन्म सम्बत 1589 (1532 ई0) मानते थे।[1] इन सभी से निष्कर्ष निकलता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म सोलहवी सताब्दी में निश्चित ही माना जाता है।

बांदा जिले के गजेटियर में स्पष्ट लिखा है कि राजापुर जहा बसा हुआ है। वहां तुलसीदास आये थे। और वह ऐटा जिला की कांशगंज तहसील के सोटो गांव के निवासी थे।[2]

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0- 129

2- वही ------ वही पृ0- 238

महाकवि तुलसीदास जी के विषय में अनेक जनश्रुतियां कही जाती है। जिसके द्वारा इनके पैदा होने के समय इनके दांतो का मौजूद होना तथा साथ-साथ विलक्षणता का दर्शन आदि इनकी विशेषता एवं परिपक्वैता के विशेष उदाहरण है।

जन्म स्थान के विषय में मद भेदों में उन्हे कोई सोंटो गाव का बताता है। कोई राजापुर का और कोई अयोध्या का । जादा तर उन्हे राजापुर का ही उचित स्थान प्रतीत होता है। जिसके विषय में कई साक्ष्य मिलतें है।

उनकी रचनाओं में अयोध्या, काशी, चित्रकूट आदि को विस्तृत वर्णन मिलता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जीवन का पर्याप्त समय इन स्थानों पर व्यतीत हुआ ।

बाल काण्ड के एक दोहे से मालूम पड़ता है कि मैने राम कथा "सूकर खेत" मे अपने गुरू के मुह से सुनी । इस सूकर खेत (सूकर क्षेत्र) को कुछ विद्वान सोंटों मानते है। कुछ गोंडा जिले का सूकर खेत ।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के परिव्यक्त जीवन के विषय में विशेष घटनाओं के द्वारा समझा जा सकता है कि वे अत्यन्त दैनीय अवस्था में कुछ कष्टो, शारीरिक एवं सामाजिक घरेलू परेशानियों द्वारा जकड़े रहे जिससे उनके हृदय में श्रद्धा एवं लगन की पूर्ण निष्ठा का समावेश हुआ ऐसे ही समय में रतनावली द्वारा उपहास , उनके जीवन का अभिन्न बदलाव बन गया और वे विशेष रूप से कवि, विचारक एवं समाज सुधारक के रूप में उभरे ।

एवं अपनी रचनाओं को काव्य द्वारा सिंचित कर अपने काल की अमर निधि के रूप में प्रतिष्ठित हुये यह उनकी प्रतिभा एवं ज्ञान का सूचक है।

अन्तिम समय में शारीरिक कष्टों से पीड़ित होकर बाहु पीड़ा की भयंकरता से काफी विछिन्न हो गये तथा पांव, पेट सकल शरीर में पीड़ा होती थी। पूरे देह में फोडे हो गये। तभी उन्होने हनुमान बाहुक की रचनाकर हनुमानजी से सहायता का आवाहन किया तथा उससे उन्हे त्याग एवं एक विशेष प्रकार की सन्तुष्टि का ऐहसास हुआ तथा वे इष्ट को सर्वस्व न्योछावर करने के लिये तैयार हो गये उनके विषय में अकबर आदि ने भी प्रसंसा करना उस समाज के सुधारक के रूप में भी अभिलाक्षित होते है। तुलसीदास के विषय में उनकी मृत्यु सम्वत 1680, अर्थात 1623 ई0 में माना गया है। तथा जो इनके जीवन के वृत में सार्थक लागू होती है। उपरोक्त स्थिती की पुष्टि के लिये उनके इस दोहे के प्रमाणित झलकती है।

" संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ।।"[1]

काव्य में भक्ति निरूपण :-

गोस्वामी तुलसीदासजी कृत बारह प्रमुख प्रमाणिक ग्रन्थो की मान्यता है। जिसमें रामचरित मानस इनकी श्रेष्ठ एवं बहु चर्चित रचना है।।

1- रामचरित मानस

शिवसिंह सरोज द्वारा दस और ग्रन्थो के विषय में भी जानकारी मिलती है। जो प्रमुख है। - रामसत्सई, संकटमोचन, हनुमदबाहुक, रामशलाका, छन्दावली, छप्पय, रामायण, कड़खा, रामायण, रोलारामायण, झूलनारामायण, और कुण्डलिया रामायण।

इन सभी रचनाओं में भाव वैध्यका या भाव वैविध्य गोस्वामी जी को सबसे बड़ी विशेषता है। एक ओर उन्होने नाथ पंक्तियों के प्रवाह से नष्ट होती हुयी जन मानस की विश्वास मयी रामात्मिका वृत्तियों को राम भक्ति के माध्यम से पुनः प्रल्लवित किया। दूसरी ओर रामकथा के विविध प्रसंगों से राजनितिक, दार्शनिक, सामाजिक, एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के समान प्रस्तुत कर विश्रंखलित हिन्दू समाज को केन्द्रित किया।

उनके राम श्रृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। वे सभी के लिये सुलभ है। जिस प्रकार अन्न और जल-

निगम अगम साहब, राम साचिलो चाह,
अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माह ।।

अन्य में दोहावली, कवित्त रामायण (कवितावली) गीतावली रामाज्ञा प्रश्न, विनयपत्रिका, रामलला नरछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपनी, श्रीकृष्ण गीतावली, हनुमानबाहुक आदि की रचना की है। इसके साथ रामचरित मानस का विशेष रूप से प्रशिद्ध है।

प्रमुख, ग्रन्थों में कवि ने राम के जीवन, चरित्र, कार्यो उनके उदयों परिवारिक चित्रण आदि का बखान अपनी लेखनी द्वारा शरल एवं माधुर्य शैली में अनुदित किया है। विनय पत्रिका तुलसीदासजी की अर्जी है। जो भगवान राम (इष्ट) के दरबार में संन्देश पत्र के रूप में भेजी जाती है।

जानकी मंगल में राम और सीता का रूप, माधुर्य का वर्णन है। किसी में रामलला नरछू में रस्म वर्णन एवं रामाज्ञा प्रश्न में देवताओं की स्तुति एवं पूजा की गयी है बरवै रामायण में छन्द संकेतात्मक कथा काव्य है राम कामदेव के रूप में शील शक्ति भी है।

सुठि सुन्दर सम्वाद वर, विरचे बुद्धि विचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग, सर घाट मनोहर चारि ।।

इसतरह तुलसीदासजी की सम्पूर्ण रचनाओं में ईश्वरी भक्ति के साथ-साथ श्रद्धा एवं आत्म समर्पण काव्य श्रेष्ठ महत्व दिखाई देता है। जो ईष्ट के प्रति विशेष अनुराग पैदा कर उसके आकर्षण का पूर्ण प्रतिबिम्ब दर्शाता है ।

सभी ग्रन्थों में ईश्वर {ब्रह्म} का साकार रूप में मानवीय कार्यों द्वारा चरित्र को प्रस्तुत कर तुलसी ने कार्यों से उत्तमता की जो शैली अपनाई है वह अनूठी है। जिसमें समाज के एक वर्ग में श्रेष्ठ कार्यों द्वारा उत्तमता की पृष्ठ भूमि में पुरूषोत्तम कहलाये । ऐसे ही ईष्ट {राम} धर्म के पूजारी है। तथा ग्रन्थो के नायक भी ।

संत कवि तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना संवत 1631 अर्थात 1574 ई0 में प्रारम्भ की जैसाकी उनकी इस अर्द्धली से प्रकट होता है।

संबत सोलह सौ इक्तीसा ।
करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ।

तुलसीदासजी संत, महात्मा, समाज सुधारक के साथ-साथ भक्त एवं कवि भी थे। जो युग प्रवर्तक के रूप में पहचाने जातें हैं ।।

कवि की प्रमुख अभिव्यक्ति हिन्दी साहित्य की जगत को एक अमर निधि बन गई है। महाकवि तुलसीने हिन्दी में अपनी रचनाओं के उद्‌गारों को प्रस्तुत कर अपना विशिष्ट स्थान हिन्दी साहित्य के जगत में स्थापित किया है। उन्हे हिन्दी का जातीय कवि कहा जाता है। उन्होने हिन्दी क्षेत्र की मध्यकाल में प्रचलित दोनों काव्य भाषाओं ब्रज भाषा और अवधी में समान अधिकार से रचनाकी तुलसीदासजी भक्ति को प्रमुखता देते हुये इष्ट की बन्दना एवं उनके प्रति अनुराग को उनके चरणों में समर्पित कर अपने को उसी ब्रह्म का एक अंश भी माना है। यही से उनके दर्शन की शुरूवात होती है। जो कि विशिष्टा द्वैत वाद के रूप में परिणत हुआ ।

" ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।।"

तुलसीदासजी सगुण भक्ति शाखा के रामभक्त थे लेकिन उनकी भक्ति में लोकोन्मुकता थी उनके ईष्ट आदर्श प्रमुख राम ही थे। वे उनकी कविता के विषय भी हैं नाना काव्य रूपों में उन्होने राम का ही गुणगान किया किन्तु उनके राम परमब्रह्म होते हुये भी मनुज रूपी है। और वे देशकाल के आदर्शों से निर्मित हैं । तुलसी की विशिष्टता उनके इष्ट राम ब्रह्म और मानव की एक रूपता में हैं ।

तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में अनेक मार्मिक अवसरों पर पाठको को आगाह कराते है कि रामलीला कर रहे है। ये सचमुच में मनुष्य नही है । राम ब्रह्म होते हुये भी अवतार ग्रहण करके मानवी लीला में प्रवृत्त है।

वस्तुतः रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही तुलसी ने कौशल पूर्वक राम के ब्रह्मत्व और मनुजत्व की सह स्थिति के विषय में पार्वती द्वारा शंकर से प्रश्न करा दिया और रामचरित मानस की परी कथा में शंकर पार्वती की शंका का निवारण कर रहे है।

तुलसी ने बाल्मीकि और भवभूति के राम को पुनः प्रतिष्ठित न करके ब्रह्म के रूप में ऐतिहासिक स्थितियों पर आधारित व्यक्ति को ही दर्शाया है। वे अपार मानवीय करूणा वाले है "गरीबनवाज" हैं । दरिद्रता रूपी रावण का नाश करने वाले है। और बाड़ाग्नि से भी भयंकर पेट की आग को बुझाने वाले है । तुलसी के राम तुलसी के व्यक्तिगत संघर्ष और उनके युग की विषमता के आलोक मे प्रकाशित हैं ।

गोस्वामी जी की यह भक्ति भावना मूलतः लोग संग्रह की भावना से अभिप्रेरित है। जिस समय सम-सामयिक निर्गुण भक्त संसार की असारता का आख्यान कर रहे थे। और कृष्ण भक्ति कवि अपने आराध्य के मधुर रूप का आलम्बन ग्रहण कर जीवन और जगत में व्याप्त नैराश्य को दूर करने का प्रयास कर रहे थे। उस समय गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरूषोत्तम राम के शील , शक्ति और सौन्दर्य से संवलित अद्भुत रूप का गुण गान करते हुये लोक मंगल की साधना अवस्था का पथ प्रशस्त किया । तुलसी का समन्वयवाद उनकी भक्ति भावना में दृष्टव्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ रामचरित मानस में राम और शिव दोनों को एक दूसरे का भक्त अंकित करके वैष्णो एवं शैव सम्प्र-दायों को एक ही समान भाव भूमि प्रदान की ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "भारत वर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया है।" भारतीय जनता में नानाप्रकार की परस्पर विरोधनी संस्कृतिया साधनायें,जातियां, आचार, विचार और पद्धतिया प्रचलित हैं तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे।। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उसमें केवल लोक और सास्त्र का ही समन्वय नही है। गारहस्थ और वैराग्य का भक्ति और ज्ञान का, माया और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनाशक्त चिन्तस का समन्वय रामचरित मानस के आदि और अन्त तक दो छोरो पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।[1]

महान रचना कारों का स्वरूप की रचना में कोई न कोई द्वन्द्व होता है। रचना इस द्वन्द्व को पाटती है दार्शनिक धरातल पर तुलसी के यहां यह द्वन्द्व राम के ब्रह्त्व और मनजत्व को लेकर है जिसे पार्वती के प्रश्न द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लौकिक धरातल पर यह द्वन्द्व "कलिकाल" और रामराज्य में हैं तुलसी की सभी रचनायें इस द्वन्द्व को चित्रित करने और उन्हे साभित करने का आद्यंत ,पयास है । तुलसी ने कलियुग का वर्णन विशेष रूप से कवितावली और रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में किया है। दरिद्रता, रोग , ज्ञान , कामाशक्ति आदि कलियुग के प्रभाव है तुलसी ने महामारी ,अकाल, बेरोजगारी आदि का भी मार्मिक वर्णन अपने काव्य ग्रन्थों में किया है।

1- हिन्दी साहित्य का इतिहास डा० नगेन्द्र पृ०- 233, 235

चूँकि तुलसी ने अपने जीवन में अभाव ग्रस्तता और भूख का अनुभव किया था इसी लिये वह लोक में व्याप्त दरिद्रता का बहुत तन्मयता से अनुभव करके अपनी व्यथा को दर्शाया है इसी प्रकार उन्होंने नारी जीवन के विभिन्न रूपों का मर्यादित ढ़ग से आकलन कर रचना में आत्मीयता द्वारा व्यक्त किया है ।

ढोल गवांर सूद्र पशु नारी,
सकल ताड़ना के अधिकारी ।

कहकर जब नारी की वास्तविकता का आभास कराकर उसे भिन्न स्वरूपों में भी दर्शाते है सामाजिक परिस्थितयों को उजागर करने में तुलसी का चिंतन एक उस युग की अपूर्व साहित्य रचना की देन ही कही जायेगी ।

कत विधि सृजी नारि जग माहीं ।
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं ।।

इस प्रकार तुलसी केवल नारी निन्दक न होकर नारी रूपी सौन्दर्य से भी अत्यन्त प्रभावित थे तुलसी ने नारी को दैवी रूपी शक्ति मानकर उसकी बन्दना एवं श्रद्धा की है

जनक सुता जग जननि जानकी,
अति सिय प्रिय करूणा निधान की

मध्य युगीन सामंतों की लोलुप्ता पर प्रहार कर धार्मिक रचनाओं के पाखण्डों का भी उद्घाटन तुलसी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किया ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा,
राम राज्य नहि काहुक व्यापा ।

तुलसी ने तीनो प्रकारों के तापों का निवारण स्मरण एवं भक्ति द्वारा किया तथा सर्व सुखद रामराज्य का स्वप्न

स्वप्न बुनकर रामराज्य रूपी आदर्श व्यवस्था की कल्पना को साकार करने का भी संदेश दिया है तुलसी के नायक राम जो वस्तुतः रामोन्मुखता से परिपूर्ण, तुलसी का सबसे बड़ा आदर्श और मुल्य रहा है। उनके लिये राम से विमुख होकर सभी कुछ त्याज्य है।

तजिए ताहि कोटि बैरी सम,
जद्यपि परम सनेही ।।

इस प्रकार तुलसी ने जीवन केी मूल्य को समझा एवं जीवन की मूल भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ- साथ भक्ति की भी विधिवत आवश्यकता, उसके प्रति समर्पण का उद्देश्य बताकर उसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का अद्भुत प्रयास किया है। जो उनके काव्य कला को दार्शनिक एवं वैचारिक मौलिकता का अभूत पूर्व समन्वय ही कहा जायेगा ।

दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार धारायें :-

तुलसीदास ने अपने रचनाओं के लिये अनेक ग्रन्थो से सहायता ली। दार्शनिक दृष्टि से विशिष्टा द्वैत मत में दीक्षित होते हुये भी वे अद्वैत में आस्था रखते थे। वे सम्प्रदायिकता की सीमा से बंधे हुये कवि नही थे। धार्मिक दृष्टि से उन्होने विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिद्वंदिता को मिटाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में उनके अध्यात्मिक विचार किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा से बद्ध नही थे वे राम को परमब्रह्म और सीता को प्रकृत स्वरूप मानते है ।

समस्त विश्व के मूल स्रतोत्र होने के कारण उनके राम नाम ज्ञान स्वरूप ही है। मायाधीश होने के कारण वे सगुण ब्रह्म भी है। वे मोह से अलग रहते है। राम की माया ही उनके इशारे से सृष्ठि का निर्माण और संहार करती है। इस लोक में सीता राम के अतिरिक्त कुछ भी नही है। समस्त विश्व राम की माया के आधीन है माया जनित संसार मिथ्या है वह राम के सत्व से पतिभाषित होकर ही सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और जीव में कोई भेद नही है जो भेद है वह माया जनित है। मानव शरीर दुर्लभ है इसी लिये मनुष्य को परमार्थ की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये ऐसा तुलसी का मत है। मनुष्य का बंधन राम भक्ति द्वारा ही छूट सकता है। हरि भक्ति प्राप्त हो जाने पर भक्त जन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का पालन नही करते भक्ति ज्ञान को अपेक्षा स्मरण भक्ति अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान का पन्थ दुर्लभ है। ऐसा तुलसी का दार्शनिक मत है।

सतसंग, गुरू कृपा, नामस्मरण रामतीर्थो की यात्रा, ब्राह्मण सेवा माया से निर्लेप लोक- निरपेक्ष भाव, वासनाहीन प्रेम, शिव आदि सभी भक्ति के पोषक तत्व है। राम का अवतारी रूप ध्यान करने योग्य है। राम के भक्त मोक्ष का निरादर कर सामीप्य की भावना रखते है। गोस्वामी तुलसीदास स्मार्त वैष्णैा थे और इसी नाते उन्होने सभी देवताओं को आदर की दृष्टि से देखा किन्तु अनन्य भक्ति भाव राम के प्रति ही रखते है। उन्होने राम की दास्य भक्ति को विशेष रूप से स्वीकार कर अपनी रचनाओं में परिणित कर उसकी महत्ता स्वीकारते है।

कोटि मनोज लजावनि हारे,
सुमुखि कहहु को अहि तुम्हारे ।
सुनि सनेह मय मंजुल बानी,
सकुचि सिय, मन महुँ मुसकानी ।।
खंजनि मंजु तिरीछे नैननि,
निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैनन्ति ।
भई मुदित सब ग्राम बधूटी,
रंकन्ह रामराशि जुनु लूटी ।।

एवं राम बाम दिसि जानकी , लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकत कल्यान भव, सुर तरू तुलसी तोर ।।
अवधेश के द्वारे सकारे गई,
सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को ठगि,
सी रही सेन ठगे धिक से ।।

उनके विचारों में रूप की लावण्यता के साथ विचारों की गहनता और भावों की विशेषता भी अभिव्यक्त हुयी है। जिससे

दर्शन की पृष्ठि भूमि :-

महात्मा तुलसी दास जी का आर्भिभाव ऐसे युग में हुआ था। जब कि समाज के उच्च स्तर के लोग विलासता के पंख में फसे हुये थे.। और निम्न स्तर के लोग दरिद्र, अशिक्षित एवं रोगग्रस्त थे। [1] वर्णाश्रम धर्म समाप्त प्राय: हो चुका था कर्म एवं उपासना को दुर्वासना ने नष्ट करदिया था ।[2] गोरख पन्थी साधुओ के योग से भक्ति भावना बलवान न होकर हीन एवं पलायित हो रही थी कुछ न लिखने वाले " अलख " की आवाज लगा रहे थे। [3]

निम्न वर्गो में पत्नी के मरने एवं घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर सिर मुड़ाकर सन्यासी हो जाना सरल सी बात का उदाहरण था ।[4] वेद पुराण के सन्मार्ग को छोड़कर वेद एवं ब्राह्मण विरोधी शूद्र नाना प्रकार के कुचक्रो में पड़कर वर्णाश्रम धर्म की हानि कर रहे थे। शासक छल, बल के साथ अत्याचार में प्रवृत्त थे ।[5]

1- हिन्दीसाहित्य की भूमिका डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ०-84

2- कवितावली 7/84 तु०ग्रं० भा०- 2, पृ०-183

3- तुलसी अलखहि का लखे राम नाम जपु नीच, दोहावली ।

4- जे वर्णाश्रम तेलि कुम्हारा, श्वपच किरात कोल कलवारा- रामायण संजीवनी टीका - पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र

5- कवितावली 7/85 तु० ग्र० भा० 2 पृ०- 184

शूद्र जप, तप, ब्रत एवं दान करते और उच्च आसनों पर बैठकर पुराणों आदि का अध्ययन करते थे। अनिति और भ्रष्टाचार बोलबाला था।[1] वेद सम्मत भक्ति मार्ग को छोड़ कर नाना प्रकार के सम्प्रदायों एवं पंथों से भर गया था । यदि कोई वेद की मर्यादा का पालन भी करता तो उसे विरत करने का प्रयत्न किया जाता था ।[2] धन की लालच में लोग गुरू और ब्राह्मण की हत्या तक कर देते थे।[3]

श्रुति विरोध रत सब नर नारी ।[4]

एवं कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ।[5]

आदि कथनो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि तुलसीदास जी श्रुति सम्मत मार्ग के कट्टर अनुयायी थे। उन्हे वर्णाश्रम धर्म की अवज्ञा भी सहन नही थी।

शूद्रो द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना भी उन्हे सहन नही था ।[6] इसी लिये ऐसी सभी निराकार वादियों को खरी खोटी सुनायी थी जो हिन्दू समाज के भीतर रहकर भी मंदिरों में जाने का विरोध करते थे।[7]

---

1. शूद्र करहि जप-तप ब्रत दाना, बैठ बैष्णवे करहि पुराना
2. श्रुति विरोध श्रुति सम्पति हरि भक्ति पथ संयुति विरति विवेक
3. आप गये अस आनहि धालहि ।
4. कौड़ी लागि मोह बस ।करहि विप्र गुरू घाव ।।
5. रा0 तु0 ग्रं0 - डा0 माताप्रसाद गुप्त भाग । ख01, 7/98/1
6. वही वही पृ0- 7/98 -2
7. वही वही पृ0- 7/99 /2

ब्रत आदि को व्यर्थ समझते तथा साकारोंपासना एवं अन्ध विश्वास को भी मानते थे ।[1] संम्भवतः इसीलिये उन्होंने नाथ पंथियों का भी विरोध किया था । इस पंथ के हठ योग में हृदय पक्ष का एवं रागात्मिका वृत्ति का नितान्त आभाव था उन्होने साखी, शबदी, दोहरा कहने वाले उन निर्गुण पन्थी संतो तथा उपखान करने प्रेम मार्गी कवियों को भी फटकार लगायी जो वेद पुरान की निन्दा करते थे। शंकर के द्वारा अवतार वाद के विरोधियों की जो भत्सर्ना तुलसी ने की है उसका लक्ष्य यही निगुणात्मक संतता है ।

उस समय संस्कृतियों की दो धाराये स्पष्ट रूप से प्रवाहित थी एक वैदिक दूसरी अवैदिक । पहली का विश्वास वेदों, पुराणो, स्मृतियों और धर्म शास्त्रों से है। और व्रत में भी विश्वास करना माना है इनके आचार्य मनु और शंकर तथा पिय कवियों में कालीदास, जयदेव और तुलसीदास पमुख है । तुलसीयुग मुख्यतः भक्ति समन्वित वेदन्त युग था उस युग में वैष्णव और शैव पर भी वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव था ।अनीश्वर वादियों का अन्त हो चुका था ।

षट दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, तर्क शास्त्र को परिधि में आगये थे सांख्य एवं योग के उपयोगी सिद्धान्त वेदान्त में समाहित हो गये थे। और तंत्र वाद भक्ति वाद में परिवर्तित हो गया था।

---

1. संस्कृति के चार आयाम अध्याय ।- पृ0 340 .
दिनकर

इसी ने वैष्णव भक्ति वाद को जन्म दिया इसमें अहिंसा एवं नैतिकता को प्रधानता दी गयी शंकर का माया वाद सामन्य मानव की प्रगति शीलता का समाधान न कर सका तो लोगो को अन्य वैष्णवाचार्यो को अद्वैत वादियो का सहारा लेना पड़ा ।

इसी समय शंकर मतावलम्बी मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रशायन की रचना करके अद्वैत सिद्धान्त और भक्ति का समन्वय प्रस्तुत कर महिमा स्त्रोत की रचना की जो शैव और वैष्णव का विशद सम्मलित संकलन बना ।[1] भक्ति वाद ने ब्राह्मण धर्म से समझौता करके वर्ण व्यवस्था और मर्यादा वाद का उसी के द्वारा धर्म के क्षेत्र में एक नये सवन्वय की सिद्धि हुई परिणाम स्वरूप प्रेम की प्रधानता हुयी । यही प्रेम मध्य युगीन काव्य की मौलिकता है। जिसने भक्ति और रहस्य-मयी साधनाओं को जन्म दिया तुलसी के पूर्व सूरदास जड़ चेतन के विरोध को दूर कर चुके थे। ब्रह्म की रस रूप व्याख्या करने के कारण वैष्णव भक्ति के लिये ऐहिक जीवन भौतिक परिवेश तथा मानवीय सम्बन्ध माधुर्य एवं आनन्द से ओत प्रोत हो गये कृष्ण काव्य में तो लोक रंजक की भावना का पधान्य रहा किन्तु लोक नायक तुलसी वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करना चाहतें थे। अतः भगवान राम को अपना चरित्र नाय मानकर उन्हे लोक रक्षक स्वरूप प्रदान किया तुलसी क्रान्ति दर्शी कवि थे।[2]

1- तुलसी दर्शन तत्वमीमांसा डा० उदयभान सिंह पृष्ठ- 31

2- मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास डा० रामरतनसागर पृ०- 97

राम भक्ति शाखा के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द ने अपने भक्ति मार्ग के लिये आचार्य रामानुज के विशिष्ठा द्वैत को पृष्ठ भूमि बनायी जिसे तुलसी ने राम के रूप में प्रतिष्ठित कर सगुण साकार देकर नाना पुराण निगमान स्वरूप मर्यादा पुरूषोत्तम एवं लोक संगहि रूप को विशेष महत्व दिया तथा उन्होंने राम चरित मानस के आत्मा मे ही याज्ञवल्क्य के मुख से -

" को शिवराम रामहि प्रिय भाई,[1] "

प्रथम कहे मै शिवचरित बूझा मर्म तुम्हार, ।

सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त विकार ।।

कहलवाकर शिव और राम में अभेद स्थापित करा देते है वस्तुतः उन्होंने हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप को रामचरित में अन्तर्निहित करदिया है । इस काल के प्रमुख तीन सम्प्रदाय थे। वैष्णव, शैव और शाक्ति जिसमें परस्पर विरोध था तुलसी ने पुराण निगमागम के आधार पर विष्णु, शिव, और शक्ति में अभेद किया शिव उनके लिये उतने ही पूज्य है जितने राम शिव और भक्ति तथा सीता और राम में वे कोई भेद नही मानते है। गोस्वामी जी की विचार धारा को वैदिक दार्शनिक मतो का विवेचन कर विशिष्ठा द्वैत द्वारा सख्य एवं दास्य भक्ति को श्रेयस्कर माना है एवं उसमें अपने आप को समाहित कर उसे काव्य के रूप में प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित किया । "[2]

---

1. रामचरित मानस पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र 1/115 - 9
2. रामचरित मानस संजीवनी टीका पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र- पृ0- 1/115 - 9

प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त :-

आचार्य रामानुज श्री संकर्षण के अवतार माने जातें है। रामानुज का सीधा सम्बन्ध आलवार संतो से थाअतः उनके हृदय पक्ष की प्रधानता उनमे आ भी गई थी। किन्तु इन वैष्णव भक्तों में मस्तिष्क पक्ष भी पर्याप्त प्रौढ़ था । अतः उन्होने ज्ञान काण्ड की अपेक्षा भक्ति योग को प्राथमिकता दी । रामानुज आचार्य ने सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था के बन्धन सिथिल किये और जनता को भक्ति की भाव भूमि में खड़ा कर दिया आस्तिक उपनिषदों सम्मत समन्वय उनके मतो का मिलता है। रामानुज को मत का सारांश उपनिषद, गीता न्यायशास्त्र एवं ब्रह्म सूत्र है । और वे सृष्टि की उपपत्ति पौराणिक साख्य के अनुसार मानते है। पांच रात्र संहिता के अनुकूल ही विष्णु पूजन होता है। उनकी भक्ति का मूल स्त्रोत गीता, पातंजलि योग शास्त्र और आलवारों की परम्परा में निहित है । उनकी उपासना प्रेम मूलक है। सम्प्रदाय में चारों वर्णो का समावेश होते हुये भी ब्राह्मणो को प्रधानता दी गयी थी और स्पर्शास्पर्श का विचार रखा गया था। अन्त्यजों के मन्दिर दर्शन, और मूर्ति स्पर्स के दिन भी निश्चित थे। कुछ विद्वान इस सम्प्रदाय को श्री सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय नायक दो वर्गो में विभाजित करते है।

रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार भी प्रस्थान-मय ही है । किन्तु विष्णु पुराण को भी उन्होने बहुत महत्त्व दिया श्री भाष्य उन्होने विष्णु पुराण के कई अंश उद्धृत किये है।

जहाँ शंकर का वेदान्त केवला द्वैत कहलाता है। वहाँ रामानुज वेदान्त "विशिष्ठा द्वैत " ।

इसके अनुसार ऐसी दशा कभी नही होती जब ब्रह्म विशिष्टा से हीन रहे चाहे प्रलय-काल में वह कारण ब्रह्म के रूप में हो अथवा सृष्टि काल में कार्य ब्रह्म के रूप में प्रलय-काल में तो ब्रह्म सूक्ष्म चिद -चिद विशिष्ट रहता है। और सृष्टि काल में वह स्थूल चिद-चिद से विशिष्ठ रहता है। प्रत्येक दशा में ब्रह्म के चिद-चिद विशिष्ट रहने के कारण ही रामानुज दर्शन का विशिष्ठा द्वैत नाम सार्थक है। यह पूर्णत. सांकर के वेदान्त पर आधारित है।

शंकराचार्य ने बताया कि अविद्या (माया) ने आत्मा के स्वरूप को अनादिकाल से मेघ की तरह अच्छादित कर रखा है। वस्तुतः आत्मा परमात्मा एक ही है। माया का आवरण हटते ही जीव , ब्रह्म हो जाता है। यह आवरण (माया) ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है ज्ञान द्वारा जब जीव आत्मा को देखता है। तब माया वरण हटते ही वह ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म ही हो जाता है द्रष्टा दृष्य एक होने पर द्रष्टा प्रायः समाप्त होकर दृष्य मय हो जाता है।

" ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मै बनावर ।"

यही अद्वैत वादीशांकर वेदान्त का सिद्धान्त है । शंकर के अनुसार मूल तत्व एक ही ब्रह्म, जीव और जगत तो माया के कारण दिखाई देते है। वस्तुतः उनका कोई मूल अस्तित्व नही है । शंकर के ज्ञानं के द्वारा ही माया व्रत जीव की माया से मुक्त हो जाता है । और फिर उसका ब्रहम में तदात्म्य हो जाता है। और फिर जीव ब्रह्म से मिलकर ब्रह्म ही हो जाता है। शंकर के मतानुसार मूलतः निर्गुण ब्रह्म निष्क्रिय ही माया उसकी इच्छा शक्ति है माया संवलित ब्रह्म सगुण ब्रह्म बन जाता है । वही सगुण ब्रह्म ईश्वर है

निर्गुण ब्रह्म अवतार नही लेता वह ज्ञान का विषय है ।

श्री सम्पदाय के संस्थापक रामानुजाचार्य के अनुसार मूल तत्व तीन है ।- ईश्वर, 2- चित, 3- अचित ।

ईश्वर अंगी है चित और अचित उसके अंग हैं । आत्मा चित है और जड़ जगत अचित है ईश्वर के दो विशिष्ट अंग है एक जीवात्मा दूसरा जगत जीवात्मा के तीन भेद है - ।-बद्ध जीव 2- मुक्त जीव , 3- नित्य जीव , । बद्ध जीव वे है जिनका सांसारिक जीवन समाप्त नही हुआ । मुक्त जीव वे है जो संसार में अति है और भगवान की आज्ञा का पालन किंकर के समान नित्य करते है। नित्य जीव वे है जो कभी संसार में नहीं आये हो जैसे गरूढ़, गरूढ़ नित्य भगवान के साथ रहे है।

चित तत्व अर्थात जीवात्मा स्वप्रकाश निर्विकार नित्य और आनन्द स्वरूप है जीवात्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण , मन बुद्धि से भिन्न है । उसका नियामक ईश्वर है। आत्मा (जीवात्मा) ईश्वर का अंग भी है । ईश्वर और जीवात्मा में सेवक - सेवाभाव है । जिस प्रकार जीवात्मा ईश्वर का अंग है उसी प्रकार जड़ जगत भी ईश्वर काअंग है । इस तरह चित एवं अचित ईश्वर के ही अंग है। एक दूसरे के विना नही रह सकतें है। तथा चित, अचित की विशिष्ठता के साथ जो ईश्वर है वही विशिष्ठता अद्वैत श्री सम्प्रदाय में ग्राह्य हैं । इसीलिये रामानुज का सिद्धान्त विशिष्ठा द्वैत कहलाया रामानुज का ईश्वर और शंकर का सगुण ब्रह्म एक ही सिक्के के दो पहलू है ।

रामानुज का विशिष्ठा द्वैत. ईश्वर को कनक तथा कनक कुण्डल के माध्यम से सुगमता पूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है।

संसार की धरती में जो कनक है वह ईश्वर है कनक कुण्डला का रूनक जीव है कुण्डला कृति जगत है। जीव अंश और ईश्वर अंशी है। सदा अलग-अलग रहकर भी एक है।

रामानुज यह भी मानते है। कि सुद्ध सत्व नाम की एक शक्ति है । जो ईश्वरकी ही एक मिश्र शत्व है । जीव को सांसारिक आबद्ध जीव बना देता है रामानुज ईश्वर साक्षात्कार भक्ति द्वारा ही मानते है । ब्रह्म लनिता नही । यह विशिष्ठा द्वैत की सुद्धता का घोतक है। तथा इसी दर्शन का आधार लेकर तुलसी ने काव्य की सामाजिक एवं पारिवारिक पृष्ठि भूमि पर भक्ति का वातावरण प्रदान कर नये युग का सृजन किया जो युग की अमनिधि कहलाई तथा कविता का विशिष्ट स्वरूप ।

दार्शनिक विवेचना :-

गोस्वामी तुलसीदास किस दार्शनिक परिपाटी के अनुयायी थे । इस सम्बन्ध में बड़े मत भेद हैं ग्रियर्सन और कार्पेन्टर ऐसा समझते है कि तुलसी दास पर ईसा धर्म का कुछ -कुछ प्रभाव पड़ा था । ग्राउज ने इतना तो कहा है कि ईसाइयों की आराधना और तुलसी की सगुण पूजा में किंचित समानता तो है किन्तु उनके मत से तुलसी दास की भक्ति भारतीय ही है ।

जे0 एन0 कार्पेन्टर का मत है कि तुलसी दास ने धर्म की ठेकेदारी का विरोध नही किया और न कोई सम्प्रदाय चलाया किन्तु ब्रह्मणाधिकार को प्रस्तुत किया और रामानन्द की तूती बजाई । ग्राउज का कथन है कि तुलसीदास का सिद्धान्त मुख्यत: सदानन्द के वेदान्तसार पर आधारित है उनकी राम भक्ति भागवत के अनुकरण पर पर डा0 विलियम चार्ल्स मैक्डूगल तुलसी प्रदर्शित मार्ग से अक्बर ईसा मसीह का आश्रय चाहतें है । राम का नाम राम से भी बड़ा है । तुलसी के इस कथन में मैक्डूगल के अनुसार न तो कोई अध्यात्मिकता ही रन्तु महात्मा मोहनदास करमचन्द्र गांधी ने तो राम नाम को अधिव्याधियों के लिये महाऔषधि समझा है ।

रामदास गौड़ को स्मार्त वैष्णव एवं अटल भक्त को समझते है पर उन्हे दार्शनिक नही मानते यद्यपि लाला सीताराम ने लिखा है कि " रामचरित मानस में विभिन्न वादों की चर्चा की है "

यथा भगवान शिव के द्वारा अद्वैत वाद की लक्ष्मण के द्वारा विशिष्ठा द्वैत वाद की और भरत के द्वारा रामानन्दी मत की । तथापि डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ऐसे मत किश्रण में विश्वास नही करते । डा० श्यामसुन्दरदास तुलसी दर्शन में अद्वैत का दर्शन करते है। डा० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि परमार्थ की दृष्टि से तुलसी की आसथा वेदान्त में थी यद्यपि भक्ति के दृष्टिकोण से भेद मानते थे शुक्ल जी यह नही मानते कि राम का नाम राम से बढ़ कर के है ।

महामहोपाध्याय गिरिधरशर्मा तुलसी दास को सांकर अद्वैत का अनुयायी समझते है । उसका यह मत तुलसी की अनेक सुक्तियों का आधृत यथा–

> करम कि होहि स्वरूपहि चीन्हें,
> सो तै तोहि ताहि नहि भेदा ।
> गिरा ज्ञान गोतीत, यत्माया वशवृर्ति ।
> अमृषैव रज्जौ यथा हे भ्रमि, निर्विकल्प ,
> नेति, नेति जानत तुम्हहि तुम्ह होईजाई ।।"

डा० बल्देव प्रसाद मिश्र पं० रामचन्द्र शुक्ल से इस मत से सहमत है कि पारमार्थिक सत्ता में तुलसी की आस्था थी और व्यवहारिक भक्ति में इनकी प्रवृत्ति थी । डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि तुलसीदास सन्त और महात्मा थे दार्शनिक नही डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण के दर्शन को संशोधित रूप में उपस्थित किया है यद्यपि वे मानते है कि रामचरित मानस और विनय पत्रिका के कुछ विचार अध्यात्म रामायण से मेल नही खातें व्योहार राजेन्द्र सिंह की मान्यता है कि तुलसी विरोधी विचारो का साम–

न्जुस्य उपस्थित किया है अतः गोस्वामी तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे आदि भौतिक दृष्टि कोण से संकराचार्य और बल्लभाचार्य के मध्यवर्ती है तुलसी के द्वारा मनोविश्लेषण का जो प्रतिपादन हुआ है वह महत्वपूर्ण है औरहिन्दी संसार की सर्वप्रथम देन है यह तुलसी की विलक्षण प्रतिभा एवं मौलिकता की विशिष्टता ही कही जायेगी तुलसी ने अपने ग्रन्थों मे इष्ट के प्रति असीम श्रद्धा एवं समर्पण का भाव देकर जहा भक्त को विशेष स्थित में पहुचाकर आनन्द का अनुभव करातें है। साथ ही साथ उसके जीवन की सार्थकता को भी दर्शाने में सहायक है । इसे तुलसी की अनुपम एवं चमत्कारिक दार्शनिकता ही कही जा सकती है । अतः तुलसी दास महान साधक, सुधारक एवं दार्शनिक भक्त कवि है ।

प्रमुख दार्शनिक तत्व :-

गोस्वामी तुलसी दास ब्रह्म के दो स्वरूप को दर्शाते है ।

" अगुन सगुन दुई ब्रह्म, सरूपा ।

अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।[1]

तुलसी ने अपने प्रभु के विषय में यह भी कहा है कि

"देस काल दिसि बिदिसिहु माही ।

कहहु सो कहां जहाँ प्रभु नाही ।[2]

हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।

प्रेम ते प्रगट होहि मै जाना ।।[3]

" जब तुलसी के इष्ट राम अपनी माता कौशिल्या को गोद में शिशु रूप में खेलतें है -

व्यापक ब्रह्म निरंजन,

निर्गुण विगत विनोद ।

सो अज प्रेम भगति ,

बस कौसल्या के गोद ।।[4]

वैराग्य संदीपनी में नाना प्रकार प्रकार से अद्वैत मत का प्रतिपादन तुलसी की लेखनी में होता है -

अज अद्वैत अनाम,

अलख रूप रहित जो ।

माया पति सोइ राम दास , हेतु नर तन धरेऊ ।[5]

---

1. रामचरित मानस बालकाण्ड 23/1
2. वही,---- वही 185/6
3. वही, वही 185/5
4. वही वही 198 /1

ब्रह्म सूत्र पर लिखित शांकर भाष्य के अनुसार यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन में ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है माया उसकी इक्षा शक्ति है मायोबाधि ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म बन जाता है तब उसकी संज्ञा ईश्वर कहलाती है और ईश्वर अवतार धारण करता है । इसी अद्वैत वेतान्त दर्शन के आधार पर तुलसी ने अगुण ॥ निर्गुण ॥ सगुण कहकर ब्रह्म के दोनो रूपों को अर्थात निर्गुण और सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया है ।

" देश काल दिसि विदिसहु माही " कह कर तुलसी ने शंकराचार्य के सर्व खलिबंध ब्रह्म को भी माना है " जानति तुम्हहि तुम्ह होई जाई " [6] से सिद्ध हो जाता है कि जीव ब्रह्म से तदात्म्य स्थापित करके ब्रह्म मय हो जाता है ।

अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म अब व्यक्त सगुण ब्रह्म ॥ ईश्वर॥ बनता है तो उसमें कोई विकार नही आता , मायोपाधि ब्रह्म व्यक्त होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म हो जाता है इस तरह ईश्वर और निर्गण ब्रह्म के स्वरूप को ओले और जल के स्वरूप को समझा जा सकता है । निर्गुण ब्रह्म यदि जल है तो व्यक्त ब्रह्म या ईश्वर ओला । रूपतः दो किन्तु तत्वतः एक ही है । इसी लिये तुलसी अपना दार्शनिक दृष्टि कोण । शिव पार्वती सम्बाद के माध्यम से प्रस्तुत करते है ।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे

मुनियों, पुराणो , विद्वानों और वेदों को साक्षी करते हुये तुलसी निर्गुण सगुण के भेद स्वीकारते है ।

सगुनहि अगुनहि नहि भेदा, गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।

---

1. मानस आयो० 127/3/1

यही निर्गुण सगुण ब्रह्म मनु शतरूपा की भांति के वश में होकर कौसिल्य पुत्र दशरथ पुत्र राम बनता है और लीलायें करते हुये भू-भार हटाता है । मानस की प्रारम्भिक कथा से प्रमाणित होजाता है कि विनय पत्रिका में भी कहा है कि ।

अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुण

ब्रह्म सुगमि रात्रि पार भूम स्वयं ।

ब्रह्म सूत्र के शंकर भाष्य से यह प्रमाणित होता है कि निर्गुण ब्रह्म की शक्ति है शगुण ब्रह्म की स्थिति मय अविद्या बन जाती है उस माया ब्रत जीव में विकृति आ जाती है -

विद्यायाम् तस्या बीज शक्ते दीघत.

अविद्यात्मिका हि बीज शक्तेर

व्यक्त शब्दनि र्देश्यापरमेश्वराश्रया,

माया मयो महाश्रक्ति ।[1]

तुलसी वर्षा वर्णन के सम्बन्ध में कहतें है

"भूमि पर भा ढाबर पानी,

जनुजीवहि माया लपटानी ।

रस्सी में सर्प का आभास ब्रह्म की अविद्या माया के कारण ही होता है इसका समर्थना तुलसी मानस के आदि में ही करते है

यत सत्वाद मृषैव भांति सकलं रज्जौ यथा हे भ्रम "

---

1. ब्रह्म सूत्र , शांकर भाष्य अध्याय 1/पाद /4/ सूत्र 3

इन उदाहरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी अद्वैत वादी है विशिष्ठा द्वैत वादी रामानुज का मत है कि ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश ईश्वर की एक शक्ति मिश्र तत्त्व जिसे अविद्या ﴾माया﴿ भी तुलसी ने कहा है उस अविद्या के वस में होकर वह चेतन अमल जीव आबद्ध जीव से हो जाता है और संसार में नाचता फिरता है । विशिष्ठा द्वैत के जगत और संसार में भेद है जगत तो ईश्वर की देह की अचित देह है और जीव ﴾ शुद्ध जीव ﴿ चित देह है । अर्थात ईश्वर की भांति चित देह भी अमल और चेतन है ।

विशिष्ठा द्वैत जीव तीन प्रकार को मानता है 1- नित्य जीव 2- मुक्त जीव 3- बद्ध जीव, लक्षमण मुक्त जीव है और मुक्त जीव चेतन और अमल होता है

इसका समर्थन करते हुये तुलसी ने काकभुशुण्ड के शब्दों में कहा हैं -

ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी ।
सो माया वश भयऊ गोसाई, बंदियों कीट मरकट कीनाई ।

उपरोक्त पक्तियों तुलसी के विशिष्ठा द्वैत वादी होने की प्रमाणिकता सिद्ध करती है ।उनके राम सगुण ब्रह्म ﴾ ई.श्वर ﴿ हैं । और लक्षमण चेतन अमल जीव है तुलसी के राम ब्रह्म है सीता उनकी आद्या शक्ती माया ﴾ विद्या माया ﴿ है । वन मार्ग में चलते हुये राम सीता और लक्ष्मण के सम्बन्ध में कहतें है -

आगे राम लखनु बने पीछे, तापस वेष विराजत काछे ।
अभय बीच सिय शोहत कैसे, ब्रह्म जीव, विच माया जैसे

विशिष्ठा द्वैत वाद के अनुसार ईश्वर और ईश्वर की शक्ति मकया एक ही है जीव और जगत उस ईश्वर के अंग.ं है अत: ईश्वर जीव और जगत सभी मिलकर सगुण ब्रह्म स शरीर ईश्वर है अर्थात जगत भी ईश्वर होने के कारण माना है और प्रमाण है तुलसी सम्पूर्ण जगत को सीता राम मय मानतें है । जगत व्याप्त और ईश्व § शक्ति मान § व्यापक है जीव ईश्वर' काअंग है इसलिये जीव भी प्रमाण है इसके समर्थन में तुलसी मानस के बालकाण्ड में कहतें है -

सिय राम मय सब जग जानी, करहु प्रनाम जोरि जुग पानी।

तुलसी मुक्त जीव § ईश्वरांस § को भी प्रमाणित करते हैं एवं प्रणाम करते है वे मुक्त जीव लक्ष्मण ही हैं ।-

बन्दउ‌ऊ लछिमन पद जल जाता, शीतल शुभग भगत सुख दाता ।[1]

अविधा माया बद्ध जीव §इश्वरांस § अनेक हैं लेकिन ईश्वर एक है ईश्वर स्वतंत्र और परतंत्र दोनों है रामानुज भी यह मानते है । तुलसी कागभुसुण्ड की वाणी कहतें है -

माया वस्य जीव अभिमानी, ई वस्य माया गुनवानी ।
परवस जीव स्ववश भगवंता, जीव अनेक एक श्रींकंता ।।

इन कथनों से तुलसी के विशिष्टा द्वैत वाद का पूर्ण प्रतिपादन सिद्ध होता है सुद्धा द्वैत में तुलसी की वाणी से -

असन्ह सहित देह धरि ताता, करिहउ चरित भगत सुखदाता ।
श्रुति सेतु पालकु राम तुम्ह जगदीश माया जानकी,
जो सृजति , जगु पालति हरति सुख पाइ कृपा निधान की।।[2]

1- रामचरित मानस बालकाण्ड 17/5

2- अयोध्याकाण्ड , रामचरितमानस 126/ छंद

कहि अतु भिन्न न भिन्न ।[1]

इन उपर्युक्त सन्दर्भों में तथा कथनों द्वारा सिद्ध होता है कि तुलसी की वाणी कही अद्वैत का कही द्वैत का और कही विशिष्टा द्वैत एवं शुद्धा द्वैत से परिपूर्ण थी जिनके अनन्य उदाहरण स्पष्ट है इससे सिद्ध होता है कि तुलसी का अपना दार्शनिक दृष्टि कोण वेदान्त दर्शन में तीन त्रयी की मान्यता से पूरित है जिन्हे उपनिषाद, गीता, एवं ब्रह्म सूत्र से उद्भूत माना गया है तुलसी के काव्य में कथा प्रसंगों व कथनों से त्रयी की मान्यता कहाँ तक प्रमाणित होती है इसकी विवेचना अभीष्ट है ।

तुलसी के अनेक कथनों के मूल में उपनिषदों के मंत्र हैं उन मंत्रों में छायानुवाद के रूप में तुलसी के अर्धालियां है भगवान के अवतार का जो कारण गीता में बताया गया है वही तुलसी के मानस में मिलता है और वही भी प्रभु की वाणी में गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

" यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युंत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्हम् ।[2]
परित्राणाम् साधूनाम् विनाशाय च दुष्टकृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवानि युगे-युगे ।[3]

---

1. रामचरित मानस बालकाण्ड 118
2. श्रीमद्भगवद् गीता 4/7
3. वही वही 4/8

एवं तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में शंकर पार्वती से कहते है -

जब-जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।[1]
तब-तब प्रभु धरि विविध शरीरा, हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा[2]

ब्रह्म सूत्र के आधार पर तुलसी के ब्रह्म के स्वरूप की स्थापना तुलसी के कथनों से हो जाती है इस लिये इतना तो कहा जा सकता है कि तुलसी वेदान्त के दर्शन के अनुयायी थे।

तुलसी के ब्रह्म वादी या ज्ञान वादी होने की प्रमाणिकता शंकर के अथवा वैष्णवा चार्यो भार्गीय के सम्बन्ध में भी उनके अनुकरण पर तुलसी का समन्वय दर्शनीय है।

तुलसी बाल्मीकि मुनि की वाणी के माध्यम से यह प्रति पादित करते है कि भगवान का साक्षात्कार ज्ञान से न कराकर ईश्वरीय कृपा के द्वारा ही होता है प्रभु को जब जीव द्वारा जान लिया जाता है। तब वह प्रभु मय हो जाता है।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई,
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होई जाई ।।

उपर्युक्त कथनों से तुलसी के ग्रन्थो के दर्शन में अद्वैत एवं विशिष्ठा द्वैत दोनो का समन्वय का समर्थन पूर्ण रूप से दृष्टव्य है। जो कि ज्ञान और भक्ति का अपूर्व संगम कहा जा सकता है।

---

1. रामचरित मानस बालकाण्ड 121/6
2. रामचरित मानस बालकाण्ड 121/8

लेकिन शंकर की दृष्टि से जगत असत्य है ब्रह्म सत्य है रामानुज के मत से ईश्वरांग होने के कारण जगत भी सत्य है निम्बार्क के मत (द्वैता.द्वैत या भेदाभेद) से जगत सत्य भी है और असत्य भी है । विनय पत्रिका में तुलसी ने केशव की रचना (जगत) के सम्बन्ध में कहा है -

" केशव कहीनजाथि का कहिये ,
"देखन तब रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ।"
कोऊ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगुल प्रबल करि मानै,
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ।[1]

"तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम" इस आत्मपरख कथन से स्पष्ट है कि तुलसी किसी के विवाद में नही पड़ते हैं । और न किसी सम्प्रदाय विशेष के खूटे से बन्धना चाहतें है । वस्तुतः वे किसी दार्शनिक वाद के अनुयायी नही वे भक्ति वादी है अवतार वादी है उनकी भक्ति का स्वरूप क्या है इसे देखना चाहिये। वेदांत दर्शन के सभी वादों को वे थोड़ा स्वीकारतें हैं । अतः विचारों से तुलसी समन्वय वादी दृष्टि को रखते हुये भी भक्ति के समर्थक है । उनके राम साकार सगुण ब्रह्म है जो नर लीला के लिये पृथ्वी पर आये हैं । निराकार निर्गुण ब्रह्वादी मनीषियों ने भी साकार सगुण ब्रह्म को ही ग्राह्य ठहराया है । मधुसूदन सरस्वती जैसे वेदान्ती ने भी अन्त में सगुण साकार को ही स्वीकारा है ।

कालीन्दी पुलिनेषु यत् कि मायाम तन्नील महोधावति ।[2]

1- विनय पद 111

2- मधुसूदन सारावली पृ0 29

इस प्रकार तुलसी की भक्ति का दर्शन विभिन्न सम्प्रदायों भा।ो एवं विशेष अनुरागो का अभूत पूर्व वैचारिक शंगम तो हैं ही साथ ही साथ एक अनूठा अध्यात्मिक तत्त्व चिन्तनों की रूप रेखा इसका पूर्ण समावेश उनके ग्रन्थो में अभिलाक्षित है जो कि युग को कड़ी बन गयी । -

मोहि न सारि नारि के रूपा, पन्ना गीरि यह रीति अनूपा।

दर्शन के क्षेत्र में तुलसी ने वेदान्त दर्शन के प्रतिपादक के रूप में भक्ति सिद्धान्त को ही प्रमुखता प्रदान की है । ।था इसी भक्ति सिद्धान्त में वेदान्त दर्शन अन स्थूल है ।

कर्म का क्षेत्र संसार (जगत) है संसार की सेवा तुलसी के लिये सर्वोच्च कर्म है ।

परहित सरिस धर्म नहि भाई, परपीड़ा सम नहि अधमाई ।

इसके लिये सेवक और सेवा भाव की विशेषता भी बतलाई है इसके विना कोई इस भौतिक संसार से पार नही पा सकता है ।

सेवक सेवा भाव विनु भव न तरै अगारि,
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि।

तुलसी ने भक्ति को याचना के माध्यम सेमन कर्म वाणी के द्वारा समपर्ण को दर्शाया है ।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेडस्मदीयें,
सत्यं बदामि च भवान् खिलान्तरात्मा ।
भक्तिप्रयच्छ रघुपुंङ्गवा निर्भय मे ,
कामादि दोष रहितम् कुरू मानस च ।।[1]

---

1. सुन्दर काण्ड - मंगलाचरण श्लोक - ।

हिय फारहु छूटहु नयन जड़ सो तन केहि काम ,
द्रवहि स्रवहि पुलकइ नही तुलसी सुमिरत राम,
मनगुन गावत पुलकि शरीरा, गद-गद गिरा नयन बह नीरा ।
काम आदि मद दंभ न जाके, तात निरन्त बस मै ताके
तुलसी के मत में भक्ति वस्तुतः हरि पद रति है काव्य शास्त्र की
माया में यह कान्ता समित उपदेशात्मक मम्मट प्रतिपादित
काव्य प्रयोजन में कान्ता समित सभी स्वीकार कर तुलसी ने
हरि प्रेम को ही माना है ।-

" हरि पद रति रज वेद बखाना, "

उदात्त भावों को दर्शन में मन रमण आनन्द शाधक तथा
तत्व विवेचन आत्म चिन्तन की संज्ञा दी है ।

भक्ति व दर्शन :-

जीवन की समग्रता के लिये ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनो को आवश्यकता है तथा प्रत्येक की अहम भूमिका भी । जिस प्रकार ज्ञान विना भक्ति के शुष्क है । तो भक्ति विना कर्म के पंगु ,। तुलसी भक्ति और ज्ञान में कोई अन्तर न-ी मानते है एक प्रकार से भक्ति के माध्यम से ज्ञान को प्राप्ति का शाधन मानते है -

भगतहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा,
उभय हरहि भव संभव खेदा ,

तुलसी के मत में भक्ति सत्य रूपी अमृत की मिठास भगवत् कृपा द्वारा प्रदत्त है ।

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर ज्ञान, संत सुर आहि
कथा सुधा मति काठहि भगत मधुरता जाहि, ।[1]

इसी के द्वारा दर्शन का सिद्धान्त मानते हुये तुलसी भक्ति को श्रेष्ठ कहा तथा उसके लिये माया (अविद्या) जो भक्ति मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है, बताया । क्योंकि भक्ति स्त्री है ज्ञान पुरूष, स्त्री माया पुरूष को अपने में फसा सकती है जिस प्रकार स्त्री, स्त्री में मुग्ध नही होती है भक्ति के द्वारा भक्त को अविद्या माया कीट मर्कट की भांति नही नचा सकती ।

सोमाया वश भयेउ गोसाई,
वंध्यो कीट मर्कट की नाई ।

तुलसी ने दर्शन द्वारा भक्ति के प्रसंग. को एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत कर समझाया है

---

1. रामचरित मानस उत्तरकाण्ड 120 क.

ज्ञान विराग जोग विज्ञाना, सब पुरूष सुनहु हरि जाना ।[1]
माया भगति सुनहु तुम दोऊ नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ।

कला के सहारे निराकार को साकार रूप देकर समझाना भक्ति मार्ग का प्रधान विषय रहा है आवागमन सगोचर परमात्मा भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया जाता है । इस तत्व का पूरा चिन्तन अनुभव कदाचित पहले- पहल नारायण ऋषि ने किया इस लिये परमात्मा को पुरूष संज्ञा देकर उन्होने पुरूष सूक्त के समान कला पूर्ण वस्तु संसार को प्रदान की जिससे जगत रक्षा के लिये असा-धारण कार्य करके दिखाया वही अवतार हो गया । यदि एक ओर समकालिक ऋषि ऋषभदेव, कपिल राम, परशुराम व्यास आदि अवतार माने गये है । तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध तक अवतार माने गये विश्व विकास के क्रम को देखते हुये मत्स्त्य, कच्छप, बाराह, नृसिंह, वामन आदि भी अवतार की कोटि में रखे गये ,

इन सब अवतारों में राम का अवतार विशेष महत्त्व रखता है पुराणोक्त सोम, सूर्य वंश विस्तार एकदम कपोल कल्पना नही है यह बात आजकल विद्वान मानते है भगवान रामचन्द्र की ऐतिहासिकता भी इसी का एक उदाहरण है ।

वैदिक साहित्य में वैष्णव धर्म " एकातिक " धर्म नहा था जब पुराण लिख गये तब तक तो वैष्णव धर्म के चार सम्प्रदायों का उल्लेख हो चुका था । जिसमें रामानुज निम्बार्क, मध्व, और बल्लभाचार्य प्रवर्तित हुये ।

डा० ताराचन्द्र महोदय का कथन इन्फ्लाइंस आफ इस्लाम आफ इंडियन कल्चर तुलसीदास भी इसी भक्ति भाव के उत्तप्रेरक थे जिन्होने वैष्णव धर्म में राम का समावेश कर अवतार के माध्यम द्वारा रामचरित मानस की रचना का प्रारूप दिया रामचरित मानस

में मर्यादा पुरुषोत्तमकता गतानुगतिक लोकचरित्रता एक दुरूहता का अन्वैषीकरण ही था राम को आदर्श रूप देकर उसे जीवन ने अनुकरणीय बताकर तुलसी ने भक्ति भावना को नया जीवन प्रदान किया। आगे दो मतों शन्व एवं रामानन्दों वैष्णवों वैराङ्ग मत में विभाजित होकर भक्ति और ज्ञान मयी सम्प्रदाय के रूप में भारतीय भक्ति का सरल शुचारू रूप दिया जो अवतार वादिता को मानते हुये सम्पूर्ण विश्व में पूज्य श्रुतियों का आधार बन गया।

धर्म- दर्शन :-

तुलसी की लोक प्रियता उनकी धर्म भावना में है दर्शन में नही क्यों कि लोक मानस निर्गुण सगुण के पचड़े में न पड़ कर विभूति योग की तृप्ति चाहता है। उसका अतृप्त मन लीला एवं चरितार्थता का आकांक्षी है।

इसी सन्दर्भ में तुलसीदास ने रामचरित मानस में "राम" नाम की भूमिका अवश्य दी किन्तु वह रूप लीला के ही है रूप और लीला का चमत्कार ही उनका इष्ट है रूप अनूप, सगुण, निर्गुण आदि धरातलोपर रामकथा को गति प्रदान करना ही तुलसी दर्शन की भूल-भुलइया का उलझाव था। जिसे उन्होने तत्त्व चिन्तन के द्वारा पूँजी भूत किया।

राम कथा का मानवीय करण के द्वारा ही तुलसी के निर्गुण सगुण ब्रह्म की उपासना का हृदयंगम होना है राम की मानवोय सीमा को अतिक्रमण होते ही अवतार वाद की प्रतिष्ठा कर उसे अलौकिकता से परिहार कर उसे भक्ति रूप देकर उसे संश्लेषित कर देतें है। जिससे उनकी प्रौढ़ता पौराणिकता केद्वारा झलकती है। अध्यात्म निति नैतिकता को पल्लवित कर उसे आत्म पटक

किया है ।तुलसी ने राकथा में जो दार्शनिकता दृष्टि कोण अपनाया है वह श्रद्धा और धर्म परायणता की जागरूकता ही है। भाव भूमि में सार्थकतर का समावेश कथा के उपादान मात्र से है । जो लक्ष्य बनकर सियाराम मै सब जग जानी के रूप में परिणित है ।

यह न कहिअ सकही दृढ सलिहि,
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि।
ताकहँ यह विशेष सुखदाई ।
जेहि प्रान प्रिय श्री रघुराई ।।

रघुनाथ की निरंतर प्रियता ही धर्म प्रियता का रूप है इसी तरह राम की गहनता अनुभूति निर्बन्धता ॥ मुक्ति ॥ ही कही जायेगी । रामनाम ॥ नामस्मरण॥ रामचरित ॥ लीला॥ रामचरणति ॥मुक्ति॥ और सत्संगत आचरण के तत्त्व बनकर ही धर्म दृष्टि का निर्माण करते है अतः तुलसी भक्ति की प्रणति दुर्बल न होकर शक्ति मान है एवं स्वस्थ निवेदन है । उनकी आस्था परोक्ष के प्रति उतनी ही नही जितनी धर्म, जीवन , जगत के प्रति । उन्होने अपने दर्शन का आरम्भ संत दर्शन के संत-असंत वर्णन से आरम्भकिया है मनुष्य तन द्वारा उद्धार का साधन मोक्ष द्वारा ही बताया जो दुख के करणों से घिरा है ।

कहहु भगति पथ कौन प्रयासा, जोग न मख जपतप उपवासा
सरल सुभावि न मन कुटिलाई, जथा लाभ संतोष सदाई ।

तुलसी के सामने मूल प्रश्न संसार ॥ प्रपंच ॥ के बाध का है वह जीवन के प्रति पलायन शील नही क्यों कि राम कर्म के प्रतीक

मात्र है जीवन पाप मय न होकर अविधात्मक ﴾ माया स्वरूप﴿ है बौद्ध चिन्तन को आत्मसात करतें हुये तृष्णा को मूल में रखकर भक्ति का अवसान तुलसीदासजी ने किया है ।

राम ते अधिक राम कर दासा ।

कहकर मनुष्य की आस्था को दास्य भावना की चरम परिणिति में बदलकर राम की महत्ता को विशेष रूप से दर्शाते है । तुलसी के दार्शनिक भाव में दासत्व की परिणिति धर्म दृष्टि बनकर कर्म रूप को भी नयी सुषमा प्रदान करती है उन्होने काव्य को उपदेशात्मक , वैराग्य निष्ठ, परोक्षवादिता पूर्ण तथा प्रबन्ध-रूपक की नीरसता ﴾को उससे बाहर कर जीवन धर्म, मर्म बोध तथा कर्म भावना मंण्डित लोक मंगल की भावुक तरलता प्रतिष्ठित कर समन्वयता के द्वारा विशिष्ट धर्म की प्रतिष्ठा अपने दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा की है ।

माया के द्वारा विमुख पथ गामिता एव आत्म छलना का भाव उत्तपन्न होना सा दर्शाते है जिन्हे काव्य में उन्होने मानस रोग की संज्ञा से विभूषित किया है और उनका शमन ﴾अंत﴿ रामचरित मानस द्वारा ही सम्भव है ऐसा काव्य द्वारा प्रेरणा देकर अपने अनूठे दार्शनिक रूप को व्यवहरित करतें है । तुलसी का तुलसी के काव्य में पश्चाताप भावना, पाप रूप न होकर अज्ञान ﴾अविद्या﴿ द्वारा ही है ऐसा विचार उनकी अनौपनिषद दृष्टि है।

तुलसी के द्वारा प्रतिष्ठित राम को ध्यान मूर्तियों वीरता का प्रतीक श्रेष्ठ क्षत्रित्व की प्रतिमाएं ही है भक्ति भाव के स्वर दार्शनिक उहापोह। और नैतिक दृष्टि की सारभौमिकता में

अन्तरनिहित होने के कारण धर्म भाव दर्शन को भक्ति का रंग देकर गहन और गाढ़ा किया है। विनय पत्रिका में हिन्दू देव वाद के द्वारा निष्ठावान धर्म-दर्शन का एकान्तित्व प्रतिष्ठित किया है । इसकी ओर मोनियर विलियम ने अपने ग्रन्थ हिन्दूज्म (अध्याय । पृ0 12) में इनके कर्म ज्ञान सिद्धान्त को दर्शाया है ।

तुलसी द्वारा भक्ति को दर्शन का स्वरूप उनके काव्य की अपूर्व प्रतिभा है जो एक वैश्लेषिक प्रतिष्ठा भी कही जा सकती है।

कर्म, ज्ञान, भक्ति, सन्यास, योग, तपतन्त्र, शक्तिवाद के रूप में अनेक साधनायें भारत वर्ष में प्रचलित थी जो दार्शनिक पृष्ठिभूमि पर फल-फूल एवं पल्लवित एवं पुष्पित हो रही थी प्रारम्भ में विरोधों के फलस्वरूप तुलसी के पदार्पण होने तक सभा मे समाहार को प्राप्त हो गयी थी ।

निगम श्रुति अगम, तन्त्र और पुराण भारतीय दर्शन, धर्म के प्रसाद के तीन सोपान थे। "क्वचिदन्यतोऽपि" के रूप में मिलकर "रघुबरभगति करे पंथाना" कहकर कवि अपने लक्ष्य की घोषणा चारो सोपानों को पिरोकर करता है ।

तुलसी के धर्म दर्शन में लोक मंगल साधना का परिपाक- उनकी रचनाओं की समन्वित प्रभाव शीलता है।

"बाल्मीकि तुलसी भयो" कहकर नाभादास ने आदि कवि के रूप की ओर इंगित किया है उपनिषद की तरह ब्रह्म की आनन्द रूप में तुलसी की अभिव्यक्ति मर्यादा पुरूषोत्तम के

लिये मर्यादा से मुक्त (स्वतंत्र- संम्पन्न) तथा माया द्रिव्यता के प्रतीक देवता की कल्पना आदि शक्ति रूप में आदित्य को देवता के रूप में देवता वाद को वैदिक युगीन सर्व दैव वत वाद की भूमिका में स्वीकार किया है ।

" उद्भवस्थि तिसंहार कारिणी क्लेश हारिणीम् ,।

सर्व श्रेयस्करी सीतां नताहहं राम वल्लभाम्।

आदि शक्ति तुव नहि अवमाना "

और दर्शन का आधार एक संत (एकसत) यज्ञ (बलि) के दारा अपने आप तेजांस को विराट विश्व में व्याप्त चेतना मे जोड़कर योशावसौं पुरूष: सोह मास्मि कहकर जीवन तत्व की अनन्यता और अखण्डता को इंगित किया है । देवता के प्रति शखा भाव से नीचे उतककर भारतीय चेतना दास्य (सेवक सेव्य भाव) पर आटिकी परन्तु शखा वात्सल्य और माधुर्य के रूप में आत्मिक भावना की गरिमा मयी परम्परा वास्तव में ऋचाओं का ही विभूति योग ही बाद में पूजा के रूप में प्रवर्तित हुआ । जिसे तुलसी ने दर्शन के रूप में एक प्रस्थान बिन्दु की सर्जना की ।

वैदिक संस्कृति के आयाम उपषिषदों के आधार पर ही वेदान्त दर्शन की रचना हुई । समस्त दार्शनिक विकास का मूल उसमें है ब द्ध जैन शांख्य दर्शन उपनिषदके समकक्ष स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विकसित हुआ । योग को सेश्वर साख्य कहा गया है । षरदशनों में पूर्व मीमांसा (यज्ञवाद) और उत्तर मिमांसा तथा योग ही सैाधनात्मक श्रेणियो का निर्माण करते है । वैशेषिक न्याय और सांख्य आदि स्वतंत्र साधना का रूप न होकर एक तरह की चिन्तन प्रणालियां है साख्य की त्रिगुणात्मक प्रणाली (सत्य, रजस, तमस) की कल्पना के बाद त्रिभूति सृष्टि के रूप में विकसित हूये ।

सत्व के प्रतीक ब्रह्म सत स्वरूप ब्रह्म के लिये स्थान छोड़ देते हैं जिसे निर्गुण सत्ता के रूपमें अध्यात्म तंत्र में स्थान दे दिया गया । जहाँ जीव और जगत ब्रह्म के शरीर रूप हैं वही अन्तर्यामियों के रूप में उनका संचालन भी करते है ।

ऋतु को धर्म वरूण और इन्द्र को राम- कृष्ण तथा रूद्र को शिव रूपमें कल्पित कर पौराणिक युग में पूजा को स्वतंत्र पद्धति का निरूपणि किया गया तथा निर्गुण ब्रह्म का साकार रूप में उपनिषद को तत्व वाद से परिभाषित किया गया जो ब्रह्म निष्ठा का स्वतंत्र रूप में जगत को मिथ्या न मानकर ब्रह्म ही मानता है जीव (शिव) की एकता के फलस्वरूप सेवा व्रत रूप में ही लोक मंगल साधना का आयाम बन जाता है औरयही बुद्धि की करूणा, महावीर की अंहिंसा, नये सन्दर्भों में नूतन अर्थ ग्रहण कर अनाशक्ति, कर्म, देवार्पण कर्म और लोकार्पण कर्म में परिवर्तित हो जाती है जिसमें अहम् की बलि हो जाती है । जो विराट योग के रूप में उद्भाषित होकर विकास वादी योग तथा राजयोग की साधना कर सार भौमिक दर्शन की सृष्टि करता है।

मध्य युगीन भक्ति काव्य में बौद्धों की अविद्या संकर की माया से एकाकर हो गयी परन्तु भक्ति काव्य में ज्ञान की अपेक्षा पुष्टि (इष्टानुग्रह) को अधिक महत्त्व मिला और योग माया के रूप में संग्रहणीय तत्व की कल्पना साकार होकर मुक्ति को भक्ति की चरणों की दासी के रूप में भारतीय चेतना

में शखा और दास्य भाव परख तुलसो साहित्य में निखार लाया ।

कोऊ कहै सत्य झूठ कह कोई, युगल प्रबल करि मानै ।

कहकर जहा तुलसीदास ने द्वन्दता का विश्लेषण अपने काव्य पतिभा द्वारा करके नये-नये रूपों में दर्शन के आयामों कोदेखा तथा उन्होने स्वतः को भक्ति का माध्यम मानकर ग्रन्थो की रचना की जिसमें उनके ईश्वरानुक्ति की विशेष उपलब्धि दर्शनीय है ।जो काव्य की विशेषता को दर्शाती है ।

भक्ति - सिद्वान्त :-

भक्ति परानुक्तरी श्वरे अर्थात ईश्वर में प्रकष्ट अनुराग को भक्ति कहतें है यही भक्ति की सामान्य परिभाषा है भक्ति का प्रमुख अंग है उपाश्य । यह वास्तव में निर्गुण और निराकार ही है । परन्तु जिन लोगो के लिये आचार्यों ने वैधी भक्ति की परिपाटी का श्रजन किया ।

उसके लिये सगुणाकार परमात्मा ही निश्चय बन्दनीय है वान्छनीय है इसलिये वह निर्गुण और निराकार होतें हुये भी सगुण सकार कहा जाता है । आकृति प्रकृति हीन उपश्य की ओर आकर्षण होना ही कठिन है और यदि आकर्षण हुआ भी तो उसका स्थितर रहना महा कठिन इसलिये आचार्यों ने हृदय को आकांक्षाओं के अनुसार उपश्य के गुण कर्म स्वभाव निर्धारित किये है गुणकर्म स्वभाव के कारण आकृतियों के नाम की कल्पना की । उपासक नाम और रूप के द्वारा ही परमात्मा भजन करता है । यह एक सरल द्रष्टि कोण होता है जिससे भक्ति नाम का साधक बनकर परमब्रह्म या पूर्व ब्रह्म का अटल श्रद्धावान बन जाता है । भारतीय भक्ति मार्ग में पूर्ण ब्रह्म अक्सर तीन तरह के नामो से व्यक्त किया जाता है ।-पहला नाम रूप देवी दूसरा शिव तीसरा विष्णु ये रूप भले ही कल्पित रही हो पर ईच्छाशक्ति के रहस्य को भली भांति समझ सकने एवं उपास्य विषय में कल्पना की सत्ता का रूप धारण कर लेना उद्देश्य होता है । उपास्य

के विशिष्ट व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति में इधर देवों का आविर्भाव, भक्तों की इच्छा शक्ति के सहारे निर्गुण साकार बनकर देवी देवता के रूप में उभरती है। ऐसे ही सगुण रूप राम और कृष्ण बनकर अवतरित होते हैं।

भक्ति की उपासना में दर्शन की अभिलाषायें निहित होती हैं। उपास्य को भगवान (दृष्ट) भगवान राम के दर्शन दों तो प्रत्यक्ष नही हुआ करते इस लिये समान भक्तों को स्थूल आलम्बन की प्रतिमा की आवश्यकता रहा करती है। प्रतिमा के अनुकूल मंदिर रचना का विधान है जिससे सात्विक भावों का उद्रेक रहता है। मन्दिरस्थ पूजक के रूप में, अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, और योग आवश्यक कर्म माने गये है। " तथा बत्तीस मंत्रों को अपराध कोटि में सम्मिलित बताये गये है। जिसे नारद पांचरात्र में दर्शाया गया है।

वैष्णवाचार्य द्वारा भगवान को पांच अवतारों में माना गया है। उनमें उत्तकृष्ट अथवा रामलक्ष्मण भरत, सत्रुघन जो परमात्मा जीव, मन और अहंकार के प्रतिरूप हैं पर (पूर्वावतार) जो राम के सर्वान्त यानी होते हुये भी व्यक्ति विशिष्ट (परसनल) (गार्ड) हैं तथा भक्ति मार्गों में पूजा अर्चना द्रव्य तथा पूजाविधि की जाती है। जिससे अर्जन एवं मनन, एकाग्रता को आवश्यकता पर बल देकर मंत्र जाप आदि के द्वारा स्तुति जिसमें पंच तत्व, गुरू तत्व मंत्र तत्व, मनतत्व, देवत्व और ध्यानत्व आदि का महत्व हैं।

भाउक श्रद्धालु, - के हृदय से प्रवृत्ति मूलक आशक्तियों में तुलसी में दो प्रमुख चुनी है । 1- दयाशक्ति , 2- शाख्य शक्ति , 3- इन्ही को प्रमुख मानकर रागात्मिका भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त कर सकने में मनक्रम वाणी, बचन द्वारा सतसंग से ही सम्भव बताया ।

भक्ति को आनन्द के लिये जाप ही तुलसी को अभिष्ट सिद्धि है । विरति- विवेक को सुदृढ़ नीव पर उन्होने भक्ति का सुन्दर प्रारूप भाव भक्ति भवन का निर्माण कर उसके उपास्य का यद्यपि रघुनाथ § राम§ कानाम रूप ही है जिसका बड़े ही उत्कृष्ट से उन्होने वर्णन किया है ।

तुलसी की दार्शनिक क्षमता मन्द श्रद्धा के द्वारा भी भक्ति का प्रेरक पाकर तीव्र हो जाती है । वैधी भक्ति की निन्दानकरके उसे तीर्थो आदि की महिमा द्वारा नामोच्चारण आदि काविश्लेषण ही तुलसी दर्शन सिद्धान्त पर आधारित है । भवत्प्रेम के द्वारा भगवतन्मात्व ही जीव का मोक्ष है मानव में प्रेम मार्ग से मुक्ति और भक्ति दोनों का प्राप्ति का विशेष वर्णन मिलता है । लोक मंगल को भावना से ओत- प्रोत प्रसिद्ध तुलसी ने कल्याण एवं साधूमत एवं लोक मत का अपूर्व समन्वय दर्शाया है ।

संत संभु-स्त्रीपति- उपवादा,
सुनिय जहाँ तहाँ असि मरजादा।
करिय तासु जीभ जो बसाई,
स्त्रवन मूदि नत चलिय पराई । [1]

---

1. डा० बल्देवप्रसादमिश्र - तुलसीदर्शन पृ० 19 § 35-19 §

तथा लोक सेवा के लिये प्राणोतसर्ग का भी उद्वेग किया है।

परहित लागि तजइ जो देही,

संतत संत प्रसंसहि तेही ।[1]

इस प्रकार रामचरित मानस में भी तुलसीदास ने लोक कल्याण का दर्शन काव्य द्वारा चरितार्थ किया है जो आदर्श और परम्परा को निभाने में सहायक है ।

कीरति भनिति भूति भलि सोई, ।

सुर सरि सम सबहित कर होई ।।

इस प्रकार तुलसी का दर्शन सत्यं शिवम् सुन्दरम् का पूर्ण समन्वयता स्थापित किये हुयेगचारण कवियों की हृदय पोषित सन्तो की दोहापद्धति - सुर विद्यापति की गीति पद्धति सूक्तियों की दोहा चौपाई पद्धति, रहीम की बरवै पद्धति आदि की अद्भुत ग्राहिका शक्ति के द्वारा आत्म सात्य कर नई पद्धति का निर्माण किया जो युग की प्रेरणा बनी और तुलसी की दार्शनिक पृष्ठि भूमि जो उनके काव्य में अभिलाक्षित है ।

---

1. डा० बल्देवप्रसाद मिश्र तुलसीदर्शन (पृष्ठ- 43-45

चतुर्थ अध्याय

सूर और तुलसी के दार्शनिक विचारो की तुलना :-

सूर - योग :-

भागवत धर्म ने शुद्ध नैतिकता पर आधारित सांख्य दर्शन की चुनौती पर ईश्वर की प्रतिष्ठा की और नैतिकता के महत्त्व का प्रतिपादन किया । किन्तु योग दर्शन ने अथवा सांख्य ने उक्त विरोध का एक समन्वित मत देकर समाधान कर दिया है । वस्तुतः योग द्वारा ग्रहीत ईश्वर भावना ने न केवल उसके वाह्य रूप को ही स्पर्श किया क्योंकिं उसका आभान्तर दर्शन- पक्ष पूर्ववत बना रहा भागवत धर्म में योग शब्द केवल एकाग्र चिन्तन के अर्थ में व्य-वहरत न होकर प्रायः ईश्वर प्रेम अथवा भक्ति के सन्दर्भ में व्यस्त हुआ ।

योग पद्धति में स्वीकृत ईश्वर छाया रूप और एक परम ज्ञान तथा शक्ति सम्पन्न विशिष्ठ आत्माके सदृश माना गया है। उसी को पुरूष संज्ञा से अभिहित करके भागवत के नारायण, वासुदेव नामों वाला परम निष्ठा- पुष्ट ईश्वर-"प्रसाद "रूप में अनन्त अच्युत और अविनाशी बतलाया । जो समयान्तर पर अवतार लेकर दुखी एवं दुष्टो का संहार करता है। राम, कृष्ण आदि उसी के अवतार है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[1] ।

योग तो मुख्यतः ज्ञान का अंग है तथापि जब ज्ञान भी भक्ति का अंग माना जाता है तो उसी के साथ योग भी उसी का अंग हो जाता है।[2]

---

1. पतंजलि - योग सूत्र- पृ0 17
2. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र-19, 20, 22

शाण्डिल्य मुनि ने ईश्वर प्राणि धाना द्वा योग सूत्र को गौणी भक्ति के अन्तर्गत बतलाया और गौणी भक्ति द्वारा समाधि के सिद्ध होने की प्रबल सम्भावना व्यक्त की ।[1]

योग भारतीय चिन्तन का सूक्ष्म और सुन्दरतम सुदूर लक्ष्य है तथा भक्ति भाव गद-गद हृदय को कोमल स्पंदन है। तब भक्ति का आधार मन इष्ट के प्रति सच्ची लगन का द्योतक है। रामानन्द एवं बल्लभाचार्य ने प्रेमयोग ﴾प्रेम+योग﴿ की प्रतिष्ठा कर योग साधना को नयी दिशा दी । उनके शिष्य परिकर में योगी, वैरागी, और तपस्वी दिखाई पड़ते है। जिन्हे सम्प्रदाय में पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली और जिन्होने योगियों के सदृश अवधूत की संज्ञा प्रदान कर अपनाया ।[2]

श्री बल्लभाचार्य और उनके अष्टछाप की स्थापना सैकड़ो वर्ष पूर्व भक्ति के चेत में मंत्र योग और प्रेम योग के द्वारा प्रतिष्ठित की गयी थी । उस समय ज्ञान और योग की गहरायी में पैठने की शक्ति समाज में नही थी यही कर्म, ज्ञान, योग, इन तीनो पंथो द्वारा भक्ति साधन रूप में मान्यता मिली । श्रीमद् भागवत में बताया गया है कि प्रेम- भक्ति साधक को कभी न कभी इन योगांगों को इसी लिये आवश्यकता पड़ती है कि उसकी साधना सीघ्र सम्पन्न हो सके ।[3]

फिर ज्ञान और योग मार्गो में निर्गुण ईश्वर की भक्ति- मार्ग के अन्तर्गत सगुण ईश्वर की उपासना गृहीत हुयी ।

कुछ उपासको की धारणा है कि वैष्णवे की रामोपासना को निर्गुणता की, निराकारी उपासना की धारा में बहा ले जाने , योगी सम्प्रदाय और सूफी सम्प्रदाय के रूप में कारणी भूत हुये थे ।[4]

1- शाण्डिल्य भक्ति सूत्र- 4, 20
2- डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल- योग प्रवाह - पृष्ठ 17

योग द्वारा उत्पन्न विभिन्न अंगो से परम अनुराग भक्ति का ही स्वरूप है ।[1] विद्या के द्वारा अविद्या का निवारण आवश्यक है । यह सम्भव है कि भक्ति विद्या का पर्व मात्र है विद्या के अन्य पर्वो में बल्भाचार्य के अनुसार वैराग्य, सांख्य, योग, और तप की भी गणना की जाती है ।[2] तन चित्त एवं मन द्वारा तीन प्रकार की सेवा पर जोर दिया गया है।[3]

अध्यात्म शास्त्र के अन्तर्गत मन- निरोध के हेतु ज्ञान, योग, भक्ति इत्यादि साधनो का निर्देशन किया गया है। इस प्रकार योग दर्शन के चरम लक्ष्य, चित्त वृत्ति - निरोध के साधन रूप योग और भक्ति को समान रूप से योग माना गया है। अपने प्रसिद्ध तत्व दीप ग्रंथ में बल्ल-भाचार्य ने यह संकेत दिया है कि श्रवण आदि भक्ति ज्ञान, वैराग्य, योग तप आदि के द्वारा साध्य है और ये साधन भी फल प्राप्ति में सहायक होते है।

"यथा वैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति। ततोड़. यथा"।[4]

इसके अलावा भक्ति मार्ग द्वारा संसार को. दुःख मय बल्लभाचार्यजी ने भी कहा है ।

1- बल्देवप्रसादमिश्र - अष्टछाप एवं भागवद सम्प्रदाय - पृ0 264

2- तत्वदीपनिबन्ध - बल्लभाचार्य प्रमाण - पृ0 49

3- सिद्धान्त मुक्तावली -बोकलग्रन्थ 2 - पृ0 19

4- शास्त्रार्थप्रकरण श्लोक -107

उसके निवारण का साधन ज्ञान, योग तथा प्रेम (दास्य एवं सख्य) तीनो के द्वारा सम्पन्न बताया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि बल्लभ ने प्रेम भक्ति को ज्ञान और योग की अपेक्षा सरल एवं सुगम साधन माना है।

यद्यपि सगुण भक्तो ने लययोग, हठयोग, राजयोग, आदि साधनों की कही भी सराहना नहीं की तथापि वे योग अथवा ज्ञान साधना के वास्तविक महत्त्व को बिल्कुल झुठलाना नही चाहते थे।

संदेह नही कि ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति उन लोगो के लिये अधिक सुविधा मय और व्यवहारिक थी । योग और ज्ञान की तंग गलियों से कुछ अनोखे, अक्खड़ अभ्यासी ही गुजर सकते है वास्तव में योग साधनों के भीतरी रहस्य चर्म चक्षुओ से दिखाई नही देते है ।

यह स्पष्ट है कि सूर सागर का भ्रमरगीत प्रसंग, योग की कष्ट कर साधना के प्रति एक बड़ी चुभती हुयी चुनौती है । जिसका उत्तर श्याम-सुन्दर के सख्य और सकल योग के उद्धव भी न दे सकें। सूर दास ने गोपी उद्धव संबाद मे योग कर्म एवं भक्ति विरोधी ज्ञान की व्यर्थता पर बल दिया वह अपने सामान्य योग, में मंत्र योग व प्रेम- भक्ति योग का भिन्न-भिन्न परिधानो को पहनकर उनके पीछे रहस्य को नही छोड़ते बल्कि इस योग का अन्तिम अंग भाव समाधि के प्रति फलन ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन में निहित है। ऐसा दर्शाते है ।

कृष्ण भक्ति के साधना पक्ष को स्पर्श करने वाले विश्लेषणो से ज्ञात होताहै कि योग के परम्परागत- संस्कारो का स्पष्ट प्रतिबिम्ब एक प्रति-क्रिया के रूप में ही पड़ा।

भक्त कवि सूरदास बल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले निगुण मतावलंम्बी थे।[1]

जहां तक योग के परम्परानुमोदित आचरण का सम्बन्ध है उक्त दोनो ही शाखायें उनसे हटी हुयी प्रतीत होती है यदि संतो ने योग साधना को अपनाया भी हो तो उसे कोमलीकृत अथवा सहजीकृत करके ही अपनाया सगुंण साधको का ध्यान योग उसकी उपरी सतह को स्पर्स करना मात्र ही नही है परन्तु उसकी गहरायी तक पहुँचना भी सार्थक जान पड़ता है जो उसके मूल का स्थायित्व है।

"जैसे उड़ि जहाज को पंक्षी फिर जहाज पै आवै "- ।

अष्टछाप के भक्त कवियों ने ईश्वर प्रेम एवं संत्सर्ग की विशेष महत्ता प्रतिपादित कर सांसारिक प्राणियों के विषयासक्तियों से मुक्त होता हुआ प्रतीत होताहै उनके द्वारा जीवन में वैराज्ञय का सहज समाविशी करण ज्ञान और योग द्वारा सरल और प्रवाह पूर्ण रूप में हुआ है इसी लिये भक्त के लिये वन और भवन में कोई विभेद नही जान पड़ताहै ऐसी मान्यताओं को भक्ति ज्ञान और योग ने सम्भवतः एक स्वर से स्वीकार कर सास्त्र चिन्तन सतसंग और सद्गुरू का महत्त्व भी समझाया है इसीलिये सूर ने वैराग्य को भक्ति का प्रमुख अंग माना है एवं भक्ति का पोषक तत्व भी कहा सूरदासजी सम्प्रदाय गत योग साधना के समर्थक नही थे फिर भी उनके अनेक पदों मे हठ योग के संकेत सम्मिविष्ठ है ।

1- डा० हरवंशलाल शर्मा- सूर और उनका साहित्य - पृ० 353
प्रथम संस्करण ।

"भांति पंथ को जो अनुसरै, सो अष्टांग जोग को करै
यम नियमासन, प्रानायाम, करि, अभ्यास होइ निष्काम ।
प्रात्याहार धारना, ध्यान करै जु, छौडि वासना आन
क्रम-क्रम सौ पुनि करें समाधि, सूर श्याम भजि मिटै उपाधि ।[1]

ऐसे पदो से ज्ञात होता है कि सूरदास कदाचित योग साधना के तो मूलतः विरोधी न थे उन्हे उन कुत्सित, कष्टसाध्य प्रक्रियाओं और भावनाओं से अवश्य चिढ़ थी जिन्हे योग मार्गीय साधकों ने प्रचारित किया था । उक्त योग परक पदो की रचना में सूरदास के वे संस्कार सजीव हो उठे जिन्होने उन्हे दीक्षित होने से पूर्व सैव साधको की संस्कृति एवं संगति में अर्जित किया था ।[2]

इस प्रकार नाथ योगियों के वेशगत तथा साधनात्मक चित्र सूरदास के भ्रमरगीत में स्थान-स्थान पर मिलते हैं । गुरू दीक्षा प्राप्ति के बाद तो नाथो का प्रभाव झुठलाना सूर के लिये स्वाभाविक ही था यही कारण उनकी गोपियों ने तो उद्धव की योगोक्तियों का मुँह तोड़ जबाब दिया सूरदास जी इन प्रसंगो के आधार पर नाथ पंथ की अन्तरंग बातो से पूर्णरूपेण अवगत थे तथा साधक जीवन के प्रारम्भ में सूरदास संत मत अथवा निर्गुण पंथ के प्रति आस्थावान थे ।[3]

1- सूरसागर प्रथमखण्ड पद 364 तथा द्वितीय खण्ड पद 4049

2- भारतीय साधना और सूरसाहित्य -डा० मुंशीरामशर्मा- पृ० 66

3- सूर और उनका साहित्य - डा० हरवंशलाल शर्मा - पृ० 353 पृ०ः०

उन्होने योग की मूल संरचना का वास्तविक अवलोकन किया उपरोक्त तथ्य से स्पष्ट है कि भ्रमर गीत मे सूरदास ने निर्गुण भक्ति की गुह्य रसमयता और कठिनता पर व्यंगय अवश्य कियाहै -

" अविगत की गति कछु कहत न आवै"

सूर ने निरालम्ब मन को अवलम्ब देने के लिये सगुण लीला पद गाये थे संत साधको की भांति सूर ने अपने पदो की कहीं कहीं जीव कल्याणार्थ यज्ञ तप, जप के साथ साथ योगा चार का भी सत्परामर्श किया है।

जोग-जग्य जप तप नहिं कीन्हौं, वेद विमल नहि भाख्यौ
अतिरस लुब्ध स्वान जू हानि ज्यौं, अनत नहीं चित राखौ।[1]

योग शब्द का व्यापक अर्थ लेकर सूरदासजी ने तीन प्रकार के भक्तो का वर्णन किया है वे हैं कर्म योगी, भक्ति योगी, और ज्ञान योगी भक्त इस बात से प्रमाणित होता हैं कि सूर ने योग की महत्ता को उसे प्राणोयम भक्ति के साथ संयुक्त कर दिया था।[2]

योग जैसे विशिष्ठ शब्द को अपनी सम्प्रदायिक भावना के स्पर्श से सुविशिष्ट करने का जाने अनजाने सूर आदि सगुण वादियों ने असफल प्रयास किया था। निरोध और नाद का भी प्रत्यारोपण इनके काव्य में अभिलांक्षित हैं।

1- सूरसागर प्रथम खण्ड पद 111

2- तुम्हारी भक्ति - हमारे प्राण- सूरसागर - प्रथमखण्ड - पद 169

इसके निरोध का अर्थ चित्त का परिष्कार और नाद का अभिप्राय श्रवण व किर्तन है न कि अनाहत नाद ।[1]
इस प्रवृति के द्वारा योग परम्परा की पुष्टि हो जाती है सूरसागर में योग साधना के संकेत कही एक दो शब्दो में और कही सांकेतिक वाक्यों मे गुम्फित दिखायी पडते है। जैसे साधना अभ्यास, श्रम साधना पवन अराधन गुफा घूघर, मौन, सुहति, साधे, मौन, ध्यान, समाधि, लगाई, जिहि, समाधि नहि ध्यान टरी ।[2]

इसके अलावा सूरदास जी की योग मुक्ति में आस्था प्रमाणित प्रतीत होती है-

" जोग जुगति विसरो, सर्वे, काम क्रोध मद जाके हो
तथा सहज समाधि सधि- स० ।" [3]

सहज शब्द से योग की कष्ट साधना पर महीन मार की गई है सूरदासजी समझते थे कि कठिन तप अथवा साधना की परिणित- अदभुत रस के पान करने में होती है सौभाग्य से मोहन की मुरली को अपनी योगियों सरीखी साधनाओं का यही अभीष्ट फल मिला ।

"अधर रस मुरली लूटन लागी
जा रस कौषटरितु तप कीन्हौ सोरस पिपति समागी "।

---

1. सूरसागर प्रथमखण्ड पद 394
2. सूरसागर 84, 121, 34, 1448, 1108, 120, 348, 80 संसकरण नन्द दुलारे बाजपेयी
3. वही ------- वही ------- पृ0 15, 44 पृ0 102, 112

योगियों की सी शब्द साधना और उनकी सदगुरू निष्ठा को संकेत करने वाले स्थल भी सूरसागर में सुलभ है ।

सबदहिं शब्द भयौ उजियारौ , सतगुरू भेद बतायौ ।[1]

सूर सागर में योग के उन मुख्य साधनात्मक प्रतीको की भी गणना की गई जिन्हे सगुण मार्गियों के पूर्ववर्ती योग साधको ने अपनाया था ।

कमलासन (पद्मासन) हृदयकमल, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना रेचक, पूरक, कुभक, त्रिकुटी त्राटक प्रयोग अनाहत शब्द सहज सून्य आदि प्रतीको के प्रति सूर भले ही प्रकट आस्था न रखते हो मगर परम्परागत संस्कार उनपर प्रत्यक्ष रूप से आवश्य दिखाई पड़ता है।

सूर जैसे परम सत्संगी और समर्थ गुरू बल्लभाचार्य के सूरमाशिष्य में इस प्रकार की विलक्षण बहुज्ञता का होना स्वाभाविक ही है भ्रमरगीत के माध्यम से योग का खण्डन करने का एक बहुत बड़ा कारण सूर की अपने विकाश शील सम्प्रदाय के प्रति वफादारी थी सूरदास कदाचित दार्शनिको की भांति योग साधना की ओर उनमुख हो जाते है। नैतिक स्तर की महानता को ध्यान में रखकर सूर ने मानसिक एवं आचरण सम्बन्धी सुद्धि पर बार-बार और तरह तेरह से जोरदार प्रयास किया ।[2]

यह बड़ी मौलिक और विचारणीय बात कही जायगी कि क्या व्यापक दृष्टि से सूरदास के राधा, कृष्ण में वह योग भावना परिलाक्षित नही होती थी। जो शिवभक्ति प्रकृति पुरूष यज्ञाउपाय, इड़ा पिंगला, पिंड ब्रह्माण्ड आदि में विद्यमान हैं ।

---

1. सूरसागर पृ0 149- पद 407

2. योग दर्शन साधना पद 30/32 एस0एन0दास गुप्ता, हिन्दू मिस्टीसिजम- पृ0 71

तुलसी-योग :-

तुलसी के साहित्य में निर्गुण, सगुण के द्वन्द का समाहार राम की परात्परता में हुआ है ज्ञान में जो अक्षर और निगुर्ण है। वही भावना में अवतारी और सगुण है । वेदऔर वेदान्त के अविरूद्ध दृष्टिकोण की पुनः प्रतिष्ठा तुलसी के द्वारा हुई है भक्ति और ज्ञान के दो प्रमुख ध्रुवो का मानस में दुलर्भ- ग्रंथि बंधन सम्भव है क्योंकि धारणा और भावना दोनो मन ৷ हृदय ৷ की क्रियायें, है।

ऋचाओं के चरम तत्व की एकता के उदघोष जिसे तप कहा गया है। इसे ध्यान में रख कर तुलसी ने विनय पत्रिका की रचना की। उसमें राम भक्ति के द्वारा वरदान स्वरूप परम दैवत ৷ब्रह्म৷ राम के सगुण रूप में कल्पित है । और राम रूपी ब्रह्मानुभूति से"मानस " के समस्त पात्र और प्रवक्ता ৷ यज्ञलव्य, गरूण, और शिव ৷ पूर्णतः परिचित जान पड़ते हैं।

तुलसी गुह्य के उपासक नही है इसी लिये राजगुह्य योग ৷राजयोग৷ का प्रशस्तरूप उनके काव्य में दिखाई नही देता है वह अलक्ष्य वादी नही है अलख जगाने वालो का उन्होने उपहास किया।

" हम लख हमहि हमार लख हम हमार के बीच,
तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच । "[1]

परन्तु उनकी रामानुरक्ति साकार की अनुभूति होने के कारण रहस्य के ऊँचे धरातल पर नही उठ सकी है ।

1- दोहावली - 17

सगुण उसके लिये निर्गुण से कम रहस्यमय नही हैं । और सगुण की इस रहस्यता से चमत्कृत होकर तुलसी की मानसी रामकथा चलती है।

"निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जानि नहि कोई,

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम दोई । "[1]

तुलसी ने सगुण ब्रह्म (रामावतार) के विनम्र को वाणी दी है । सगुण पर निर्गुण की तीव्रता भाव परखता और सूक्ष्मता देकर तुलसी राम चरित को गोध लीला प्रधान और साधना परख बनाकर सच्चिदानंद चिन्मय राम (ब्रह्म) का दशरथ पुत्र रूप भक्ति की लीला भावना द्वारा चरितार्थ कर- " प्रकृति नर अनुरूप " पर उतारा ही है। जो कि मोह वश स्वाभाविक प्रतीत होती है ।" विनय पत्रिका " के द्वारा ब्रह्मानुभूति का चित्रण प्रतीकात्मक अनुभव सूक्ति द्वारा निरूपण करने मे तुलसी सिद्ध हस्त हैं। जिसमें मायात्मक संसार के रहस्य मय वैचित्य आवरण को भी उघाड़ने में भी सक्षम है। फलतः तुलसी की भक्ति भावना राजगृहण योग की भाँति सरल सूक्ष्म, और भाव मधुर बन जाती है। सुकर्म और स्वधर्म में निरत समाज हो तुलसी का कर्म जगत है । राम भक्ति द्वारा योग का प्रभुत्व स्थापित कर इसी कर्म जगत को तुलसी आध्यात्मिक दीप्ति द्वारा प्रज्वलित करना चाहते हैं।

तुलसी काव्य में वेद- वेदान्त का परिचय एवं इसी को आधार मानकर भक्ति योग, विभूतयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, एवं कर्मयोग की विभिन्न भूमिका के रूप में प्रतिस्थापना करते हैं।

---

1. रामचरित मानस उत्तर काण्ड - 73

तुलसी के चिन्तन में देवता एवं उनके विभूति योग के साथ साधक और उसके दैन्य का भी सूक्ष्मतम् चित्रण प्रदर्शित होता है। भक्ति साधना के द्वारा योग की अनुभूति एवं व्यावहारिकता का समन्वीयकरण तुलसी की विशेषता रही है।

भक्ति योग को अद्वैत साधना अथवा मुक्ति की पीठिका बनाने जैसा आयोजन तुलसी ने किया वैसा अन्य ने नही ।

भक्ति द्वारा मुक्ति को सतही दृष्टि पर विरोध युक्त प्रतीत होना परन्तु आरम्भिक भक्ति भगवान से योग का परम साधन है। ऐसा तुलसी का मत है। ज्ञान और कर्म की भांति वह भी ब्रत, जीवैक्य आदि का साधन मानते है जो निश्चित रूप से लय योग हैं यह लय का अर्थ ब्रह्म हैं इसी अर्थ द्वारा जीवकी अन्यतम् एकता एवं स्थिति की संम्भावयता की विवेचना की जाती है।

भक्ति योग से मुक्ति को अस्वीकार कर साधक और साध्य की एकात्मकता पर बल दिया जाता है परन्तु अन्तिम लक्ष्य भक्ति द्वारा भक्त के व्यक्तित्व का रूपान्तरण और उसकी भगवान के चरणों में आशक्ति का स्वरूप दर्शाता है । विश्व रूप की तुलना में तुलसी का विवरण योगी के रूप में परम दृष्टा के समान रूप द्वारा उभर कर सामने आता है।।

रामकथा गिरिजा मै बरनी,
कलिमल समनि मनोबल हरनी ।
संसति रोग संजीवन मूरी,
रामकथा गावहि श्रुति सूरी ।। [57]

तुलसी के काव्य में भक्त की स्पष्ट भूमिका उसके दैनीय , विनम्र एवं अत्यन्त संकोची स्वभावके रूप में होती हैं । तुलसी का भक्त , भक्ति योगी के रूप में सगुण अराध्य का स्मरण जाप आदि द्वारा करता हैं। जो तुलसी की दास्य भावना का प्रतीक हैं ।वहराम देश से मुक्त होकर प्रज्ञ अथवा

अथवा ज्ञानी की भाव स्थिति कोगप्राप्त होता हैं ।

धर्म तें विरति जोगते ग्याना , ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना ।
जाते वेगि द्रवऊँ मै भाई , सो मम भगति भगत सुखदाई ।
सो स्तुतंम अवलंभ न आना, तेहि आधीन ग्यान विज्ञाना ।
भगति तात अनुपम सुख मूला , मिलइ सोसंत होइ अनुकूला ।
भगति के साधन कहऊँ बखानी , सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी ।
मम गुन गावत पुलक शरीरा , गद-गद गिरा नयन बह नीरा ।
कामआदि मद दंभ न जाके, ।।त निरंतर बस मै ताकें ।
बचन कर्म मन मोरि गति,
भजनु काहि निः काम ।
तिन्ह के हृदय- कमल महु,
करउ सदा विश्राम ।।[1]

भक्त कवि तुलसी ने जूट जटाएवं सन्यासी वस्त्रो को धारण करने वाले विशेष रूपों से योग का माध्यम चुना मगर क्रिया रूप में उसे लाक्षित नही कर पाये तुलसी ने नवधा- भक्ति काभो विशेष रूप से वर्णन करके योग की उपर्युक्त विशिष्ठता से लक्ष्य दर्शाने की पूर्ण अभिव्यंजना की है।

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरि रतिमम कथन प्रसंगा ।

1- रामचरित मानस - आरण्य काण्ड- दोहा 15,16

गुरू पद पंकज सेवा तीसरी भगति अमान ,

चौथि भगति मम गुन कर करई कपट तजि

गान ।

रामसरूप तुम्हार बचन अगोचरबुद्धि पर ,

अविगत अकथ अपार नेति-नेति नित निगम कह ।।

इस प्रकार तुलसी ने अपनी भक्ति को संयुक्त विरति विवेक कहा है। और उसकी विरति और विवेक उनके भक्ति साधन के अनिवार्य अंग है भक्ति मूलक विरति विवेक (ज्ञान) की साधना को अधिक प्रश्रय देकर अन्त में अद्वैत तत्व वाद (निर्गुण ब्रह्म) पर समाप्त होती है। उनका निर्गुणत्व वाद भक्ति वाद से मर्यादित है क्योंकि उसमें माया को परमार्थिक न मानकर प्रगति मासिक (हरि इच्छा निर्मित या हरि इच्छा से अनुशासित माना गया है माया को सत्य न मानकर जीव और जगत को सत्य (ब्रह्म) मानने से तथा मानो जीवन को चिद विलास (ब्रह्म विहार) समझने से धर्म, निति और आत्मिक व्यवहार के वे कल्याण मार्गों को प्रसस्त करने में सहायक हैं।

ज्ञान और योग के मार्ग मोक्ष अथवा परिपूर्ण आत्म स्वातंत्र्य के ही मार्ग हैं। परन्तु ये सर्व सुलभ नही हैं व्यक्ति गत पूर्णता के आदर्श को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं और सम्मान की बात सोचते हैं परन्तु गृही के लिये मोक्ष साधना के रूप में निःसंन्देह दुश्कर साधना, प्रतीत होता हैं । चित्त वृत्ति निरोध का आदर्श सन्यासी के लिये ही उपयुक्त हो सकता है वह इन्द्रिय , मन से ही आत्म होता है ।

तुलसी युग का भक्त आत्म समर्पण, नैतिक औदात्य और ध्यान योग से आगे जाकर परन्तु चित्त वृत्ति निरोध को अस्वीकार कर भगवान (ईष्ट देव) में ही पंचेन्द्रियों का रस प्राप्त करना चाहता हैं वह इन्द्रिय दमन न चाहकर उसे आलम्बन में बदलने का प्रयास करता है। वैष्णव भक्तियोग

में उपयुर्क्त सम्प्रदायिक प्रक्रियों और चर्चाओं में प्रकाश डाला गया है। जो काम लोभ की प्रियताकी तीव्र वेदना को भी दर्शाने में शक्षम सिद्ध होता है। यही राम की प्रियता आकांक्षित रूप है।

साधनाओं की रहस्यआत्मक प्रवृत्ति, योग में सिद्धान्तों चर्चाओं और भक्ति पद्धतियों का समावेश तुलसी के दर्शन में शमविष्ट है। अनाशक्ति एवं इन्द्रिय निरोध सम्बन्धी अतिवादी दृष्टि कोणों के प्रति प्रिय स्वादन को या रागात्मक प्रवृति को प्रधानता मिलने लगी उसका अतिक्रमण कर तुलसी ने वात्सल्य एवं भक्ति की सख्य, दास्य के रूप में दीनता को विशेष रूप से दर्शाने का प्रयास किया फलस्वरूप परिवर्तन कर उसे नया आयाम प्रदान किया जो भक्ति के तापस रूप में उन्होने अपने आप को ऐसे ही कल्पित किया था तुलसी ने योग में अद्वैत में निराकरण तर्क द्वारा निर्गुण, सगुण तथा ज्ञान भक्ति विवेचन के रूप में प्रस्तावित किया जिसके साधना पक्ष पर तुलसी का विचार अन्यों की अपेक्षा कम दीखता है क्योंकि वह तर्क का विषय न होकर आस्वादन की वस्तु है ही है।

तुलसी ने रामानन्द की वैधी भक्ति का निरूपण कर योग को नये ढंग से प्रस्तुत किया है वैधी भक्ति में प्रेम की अपेक्षा श्रद्धा का विशेष महत्व बताया है जिसमें भक्ति का सम्बन्ध ईष्ट की महत्ता एवं सर्वोच्च परिता को दर्शाने में करते है उनकी भक्ति मेगयोग द्वारा बौद्ध स्रोतो से भगवान बुद्ध की तरह रक्षा करने की याचना की गई है। परन्तु रामानुज की प्रपत्ति और भक्ति धारणा में अन्तररहते हुये भी प्रपत्ति हैतुकी और भक्ति अहैतुकी में चातक प्रेम की तरह अन्यमयता का भाव हैं जो स्वाति बूँद की कामना में प्राण दे देताहै ऐसे भक्ति में दास्यता का प्रमुख प्रभुत्त मिलता है।

ऐसी हो भक्ति मे देह और मन का नियन्ता ईश्वर ही है। जिसमें आत्म समर्पण का भाव पूर्ण रूप से उसकी भक्ति का क्रियान्वयन करने में सहायक है। जिसका विस्तार एवं प्रत्यक्त्या ईश्वर की दया और शरणागति पर निर्भर रहती है। हैतुकी और अहैतुकी भाव के अनुसार प्रपत्ति और स्मृति {मति} में भेंद अवश्य ही हो जाता है परन्तु ईश्वर स्वयं इस प्रकार की भक्ति से आकृष्ट होकर प्रत्येक प्रकार से भक्त की सहायता करता है जिससे उसकी भक्ति भावना दृढ हो जाती है। तुलसी की भक्ति-साधना { भक्ति भावना } की य विशेषता है कि उसमें श्रृंगार प्रतीको का उपयोग न होने पर भक्ति तन्मयासक्ति आत्म निवेदन और परमविरक्त { विरहा शक्ति } का वही स्वरूप हमें उपलब्ध हैं जो रहस्य साधना को लेकर चलने वाले सम्प्रदायों में पल्लवित हुयी है भक्ति साधना को योगात्म दर्शन तुलसी ने अपने काव्य में पुंजीभूत किया है इनका भक्ति रूप तुलसी का दर्शन ही है जिसमें व्यापक दृष्टि भूमि की भक्ति-साधना है । उनके भक्ति योग की साधक बनी तुलसी द्वारा प्रवर्तित भक्ति का योग स्वरूप भावना उनकी ईष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण के रूप में दिखती हैं। तुलसी ने बामपन्थियों के , शाक्तो के योग के सन्दर्भो की आलोचना करन में चूक नही की जिसमें वाम पंथीय शाक्तो के मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पांच मकारों { विकारो } की उपासना के लिये अवहेलना का दृष्टि कोण अपना कर अपने विरोधी प्रवृति को श्रुति-स्मृति परम्परा को बतलाकर इष्ट के प्रति साधारण भक्ति के द्वारा मिलन का वास्ना रहित भावों से अनुराग पैदा करने का दर्शन समझाया है जो ध्यान योग द्वारा ध्यान को अपने-अपने कर्तव्यों पर केन्द्रित कर उसे निभाने की क्रिया दर्शाते है।।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, इन पांचों इन्द्रियो को मर्यादा की लक्ष्मण शक्ति पर रहने का विकास का साधना साधन रूप में बतलाकर उसे जप तप से विसुद्ध निर्लिप्त न होकर नाम, जप का स्मरण बताया है और उसको उची स्थिति में दर्शाया है ।

सुन मम बचन सत्य अब भाई,

हरि तोषण व्रत द्विज सेवकाई ।

तुलसी ने परलोक पथ के मार्गों में कर्म ॥ क्षत्रिय वृत्ति ॥ ज्ञान ॥ब्राह्मण वृत्ति ॥ दान ॥ वैश्य वृत्ति ॥ और तप या काय क्लेश ॥ श्रम अर्थात सूद्र वृत्ति ॥ को अध्यात्म साधना में लीन कर वर्णाश्रम धर्म की कल्पना एवं सभी मार्गों को समन्वयता का दर्शन उभारा है उनके द्वारा समयक ज्ञान, सम्यक कर्म को महत्त्व देकर मानव के आत्म स्वतंत्रय की रक्षा की अनाविरल बुद्धि और अनाशक्त कर्म ॥ विवेक विर हमारे सामाजिक व्यवहार को मर्यादा देते है तो दान औ शक्ति साधना और आत्म मंथन की अंतरंगी उपलब्धि कराते है। ज्ञान और तंजप विवेक ॥अनाशक्त ॥ कर्म योग जन्य ॥विरक्ति॥ भाव ॥ दान ॥समता ॥ और तप ॥ साधना॥ यही संस्कृति दर्शा कर अपने दर्शन को मर्यादित करने का अपूर्व साहस किया है। तुलसी के जोग जुगति के स्वरूप में अपने विचार को स्पष्ट रूप दिया है मानस- रोगो के नाश के लिये गोस्वामी जी ने दो नुस्खे लिखे है जिसमें एक मनो विश्लेषणात्मक है दूसरा अति मनोवैज्ञानिक पहले के अपेक्षा दूसरा नितांत अचूक है । अति मनोवैज्ञानिक नुस्खा राम- भक्ति है वह सभी रोगो को रामबाण- औषधि है ।

राम कृपा नासहि सब रोगा, जौ एहि भांति बने संयोगा ।
सद्‌गुरू बैद वचन विस्वासा , संजम यह न विषय कै आशा ।।
रघुपति भगति संजीवन मूरी, अनुपान श्रद्धा मति पूरी ।
एहि विधि भलेहि रोग नशाही , नाहि तज तन कोटि नहि,ज

मनो विश्लेषणात्मक योग समाता का योग है जिसमें तीन "वि" तत्त्व है अर्थात विनय, विवेक, और विराग । पहले से इन्द्रियों को नियमित मन को संयमित तथा दूसरे के लिये मार्ग प्रसस्त करता है ।

तजि जोग पावक देहि हरि पद लीन,
मइ जहँ नहि फिरै ।

तुलना
=====

सूर नेजहां धार्मिक उच्छखलता का उपहास अपने पदों में किया है तथा योग का भावनात्म स्वरूप स्वीकारा है।

आसन ध्यान वाइ आराधन अलि मन चित तुम तायें,
मुद्रा असम विषान त्वचा मृग, ब्रज युवतिन मन भायें।

× × ×

गोरख शब्द पुकारत आरत, रस रसना अनुराग ।

योग की विशेष मुद्राओं को भी उन्होने नही स्वीकारा ।

इंगला पिंगला सुषमना नारो, सून्यो सहज मैं बस्गो मुरारो ।
ब्रह्म भाव करि मै सब देखो, अलख निरंजन ही को लेखों ।
पदमासन इक मन चित लायों, नयन मूंदि अन्तर्गत ध्यावो ।
हृदय -कमल में ज्योति प्रकासी , सो अच्युत अविगत अविनाशी।

योग शब्द का व्यापक अर्थ लेकर सूरदास जी ने कर्म योगी, ज्ञानयोगी और भक्ति योगी भक्तों का निरूपण दर्शाया है । जीव कल्याणार्थ उन्होंने यज्ञ, तप, जप, आदि के साथ योगाचार का सत्यपरामर्श किया है ।

योग द्वारा स्वीकृत निरालम्ब मन को अवलम्ब के रूप में देने के लिये सगुण लीला का निरूपण किया गया है परन्तु तुलसी दास ने ब्रह्म योगी माना है जो कि अलख जगाने वाले है

जोग जुगति जग जगति जानकी ।

भक्ति योग द्वारा मुक्ति को अस्वीकार करने में जहां सूर के साथ समानता का भाव दर्शाया है परन्तु नवधा भक्ति के रूप में योग को अभिलाक्षित कर उसे विशिष्ट रूप भी दिया है । ज्ञान के साथ योग को मुक्ति का म बताते है तो उसकी सुलभता न होने के कारण चित्त वृत्ति निरोध एक साध्य के रूप में स्वीकार भी करते है जो इंन्द्रिय दमन न चाह कर आलम्बन में बदलने का कार्य करता है सूर ने इसको नही माना यह कहा

सूर- ब्रह्म :-

सूरदास जी वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होने सगुण निर्गुण रूपी ब्रह्म की उपासना कृष्ण को आलम्बन मानकर तथा उन्ही को साक्षात् ईश्वर का रूप स्वीकार किया कृष्ण का पर-ब्रह्मत्व उनका विरूद्ध धर्मत्व तथा जीव तथा जगत का अंश रूपकत्व भी सूर को मान्य है जिसे उन्होने अवतार वाद के रूप में विष्णु का प्रतिबिम्ब माना उसकी लीलाओं से अपना मानसिक तदात्म्य स्थापित कर पूर्णतः भगवान पर आश्रित हो जातें है जो कि बल्लभ सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य है ।

आदि सनातन, हरि अविनाशी, सदा निरन्तर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखाने चतुरानन शिव अनंत न जानै।
गुन गम अगम निगम नहि पावै, ताहि जशोदा गोदखिलावै ।[1]

सूरदास जी ने कृष्ण को सनातन अविनाशी, पूरनब्रह्म कहकर उनका निर्गुणत्व प्रकट कर दिया है।" ताहि जसोदा गोद खिलावै" द्वारा उसमें सगुणत्व का पूर्वाभास भी दिखाया है। विरोधी धर्मोकी स्थिति से समस्त जगत को कृष्ण से मण्डित माना है ।

कोट ब्रह्म प्रजन्त जल थल, इनही कै यह मण्ड ।[2]

1- सूरसागर दशम स्कन्ध पद 621 सभा संस्करण
2"- वही ------- वही ---- पद 1603 सभा संस्करण

जल-थल मै कोउ और न बियौ, दुष्टनि बधि सन्तनि को सुख दियों ।

सूरदास जी ब्रह्म को श्याम रूपी मानते है साथ- साथ उन्हे जगत की ब्रह्मयता एवं अक्षर ब्रह्म का भी वर्णन करने में नही हटते है।

अछर अच्युत अविकार है, निराकार है जोई ।
आदि अन्त नहि जानियत , आदि अन्त प्रभु सोई ।।

सूरदास कृष्ण को कण कण में व्याप्त अर्थात जगत की ब्रह्मयता रूप को स्वीकार कर उन्हे अन्तार्यामी रूप में भी दर्शाते है ।

सूर श्याम तुम अन्तरजामी,
वेद उपनिषद माखै ।

सूर सारावली में तो स्पष्ट रूप से सकल तत्व ब्रहमाण्ड देव माया , काल प्रकृति, पुरूष श्रीपति नारायण आदि सभी को गोपाल कृष्ण का ही अंश कहा है ।

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव मुनि ,
माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरूष श्री नारायण,
सब है अंश गोपाल ।।

1- सूर सारावली पद 2।

श्री बल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टि मार्ग के मूलाधार वृहत्त्रयी और श्रीमदभागवत ग्रन्थ है। उन्होंने वृहत्त्रयी के अतिरिक्त भागवत की सुबोधनी टीका और षोड़श ग्रंथ की भी रचना की जिसमें उन्होने धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि कोणों को प्रस्तुत किया ।

ब्रह्म के सम्बन्धं में सूरदासजी ने कृष्णको पूर्ण ब्रह्म व अवतार ब्रह्म ही माना है सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु के सत चित से आत्मा और प्रकृति का निर्माण हुआ इसी त्रिगुणात्मक ब्रह्म ने कृष्ण के रूप में जन्म धारण किया और नरलीला का अद्भुत प्रदर्शन दर्शाया जिसे सूर ने ब्रह्म का स्वरूप देकर अपने काव्य में प्रतिष्ठित किया ।

करनी करूना सिन्धु की कछु कहत न आवै,
कपट हेतु परसै बकी जननी गति पावै ।
वेद उपनिशद जस कहै निगुण ही बतावै,
सोइ सगुन होइ नन्द के दाँवरी बधावै ।।

सूरदासजी मुख्यत: सख्य भाव के समर्थक है जिन्होंने प्रतिकात्मक शैली मे अपने काव्य ग्रन्थ को रचना की उनके नायक कृष्ण निश्चित ही से सगुण ब्रह्म तो हैं ही साथ ही साथ वे निर्गुणी एवं चमत्कारी शक्ती के स्वरूप भी हैं रूप की उपासना को जादा महत्व देकर जहा सगुणत्व की पुष्टि के भावों से होती है परन्तु उद्धव सम्बाद के द्वारा निर्गुण का उपर्युक्त महत्व भी प्रदर्शित होता है सूर की ब्रह्म विवेचना कृष्ण की प्रमुख लीला अवतार में मिलता है ब्रह्म का (कृष्ण का) नख शिख वर्णन जहा अवतार वाद को सिद्ध करने में सहायक है तथा पुरू-षोचित स्वरूप में भी व्याप्त मिलता है सूर के ब्रह्म सजीव व ज्ञान की प्रतिमूर्ति तो है ही कण-कण में व्याप्त एवं सृष्टि के संचालन कर्ता भी हैं भक्तो के सहायक व रक्षक भी हैं।

कृष्ण भक्ति करि कृष्णहि पावै,
कृष्ण हितें यह जगत प्रगट है, हरि में लय ह्वै जावें ।
यह द्रुण ज्ञान होय जासों ही हरिलीला जग देखे
तौ तिहि सुख दुख निकट नहि आवै ब्रह्म रूप करि लेखे ।।

सूरदास जी ने ब्रह्म के दर्शन के लिये बाह्य नेत्रों के साथ-साथ अन्तः चक्षुओं को खोलना भी परमावश्यक बताया है। जिसके द्वारा उस रूप की अनुभूति परकता को देखने में आत्मिक सुख की कल्पना की जा सकती है। साधारण भक्त भक्ति के माध्यम से रूप के अनुराग को तो ग्रहण कर सकता है किन्तु आनन्दानुभूति की कल्पना नहीं ।

कौन सुकृत इन ब्रजवासिन को ,
वदन विरंचि शिव शेष,
श्री हरि जिनके हेतु मानुष वेष ।।

सूरदास जी भक्त प्रमुख दार्शनिक है जिन्होने सगुण निर्गुण दोनो रूपों को अपनाकर निर्गुण के लिये वेद उपनिषदो का ज्ञान आवश्यक भी बताया है जो नाम के द्वारा से भी श्रेष्ठ है ।

शोभा अमित अपार अखण्डित आप आत्माराम
पूरन ब्रह्म प्रगट पुरूषोत्तम सब विधि पूरन काम,
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्पआहार,
ओंकार आदि वेद असुर-हन निर्गुण सगुण अपार ।

सूरदास जी की शुद्ध अद्वैत वादिता के द्वारा ब्रह्म को पराब्रह्म कहा जाना , परब्रह्म को प्रकृति अन्य कर्मों के अभाव में निर्गुण एवं आनन्द-दायक कहा है ।

तथा ब्रह्म को दिव्य कर्मों से पूर्ण होने के कारण सगुण भी बताया है जो सगुण ब्रह्म की उपासना का आधार भी माना है वेद द्वारा पुष्टि अभिलाक्षित है ।

" नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यौ न मेधया न बहुता श्रुतेन "

सूरदास जी अपने इसी प्रकार की घटनाओं द्वारा कृष्ण को परब्रह्म, अंन्तर्यामी, सर्वव्यापक और निर्गुण स्वरूप को स्वीकार करते हैं उसके विराट रूप को सप्त पाताल उसके चरण और आकाश उसका सिर बताते है सूर्य, चन्द्र , नक्षत्र आदि में उसी का प्रकाश व्याप्त है तथा भगवान कृष्ण को तीनो देवों मे श्रेष्ठ और पूर्णावतार बताया है ।

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहि जानत, विहरत युगल स्वरूप
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव मुनि, माया सब विधिकाल
प्रकृति पुरूष श्री पति नारायण सब है अंश गोपाल ।

सूरदास जी कृष्ण को सभी प्रकार की रसाक्ति का शोषक बताकर जहां ब्रह्म की सजीवता को दर्शाने में भी सहायक है ।

वृन्दावन निजधाम परम रूचि,
वर्णन कियो बढ़ाय ।

सूर का ब्रह्मत्व जहां अवतार वाद से प्रेरित है तथा वह विष्णु शिव, रूद्र, एवं ब्रह्मा का ही प्रतिबिम्ब मानते है राम, कृष्ण नारायण आदि शब्दों के द्वारा ब्रह्म की एकात्मकता, एकता , पराब्रह्मयता एवं अव्यक्ति शक्ति का द्योतक बताकर रास लीला का मायावी रूपक भी मानते है ।

" विष्णु, रूद्र विधि एकहि रूप,
इनहिं जान मत भिन्न स्वरूप "।

1- सूरसागर पद 370

इन रूपो के द्वारा भी कृष्ण को सर्वोपरि माननेमें सूरदासजी सबसे आगे है। जो ब्रह्म के दृष्टिकोण की न्यूनता का गुण भी दर्शाता है सूर की दृष्टि में रामावतार भगवान कृष्ण का ही पूर्वावतार हैं सूर सागर में बालकृष्ण को रामकथा का वर्णन यशोदा द्वारा सुनाना इस बात की पुष्टि करता है। सूरदास जी ने कृष्ण को राम और संकर्षण प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध को क्रमशः लक्ष्मण भरत, और सत्रुघन का अवतार बताया यह उनकी मौलिक विचारधारा को प्रमाणित करता है।

निर्गुण सगुण को एक रूपता प्रदान कर शुद्धाद्वैत वादिता का अनूठा सिद्धान्त प्रतिपादित करने में सूर सिद्ध हस्त हैं।

" वेद उपनिषद यश कहे निर्गुणहि बतावें,
सोइ सगुण होइ नंद को दावरी बधावें।"

इस प्रकार सूर ने लीलाओं को माध्यम मानकर सगुण ब्रह्म की पुष्टि, एक साधारण व्यक्तित्व का परिचय करने में सहायक है जिसमें गुणो की दृष्टि (ज्ञान की दृष्टि (द्वारा उसकी सारभौमिकता एवं व्यापकता भी बताती है यही सूर का रूप रस पान ही ब्रह्म का ज्ञान "दर्शन " के द्वारा अभिलाक्षित होता है यही सूर का ब्रह्म विचार है।

तुलसी- ब्रह्म :-

डा० रामकुमार वर्मा जी के अनुसार तुलसीदास जी ने अद्वैतवाद के भीतर ही विशिष्ठा द्वैतवाद की सृष्टि कर दी है। तुलसी के राम ऐसे है कि उनको भृकुटि विलास मात्र से विश्व का लय हो जाता है

" भृकुटि विलास सृष्टि लय होई,

सपनेहु संकट पाइ कि सोई ।

तुलसी के राम विश्व के कर्ता, पालक एवं संहर्ता भी है। वे ज्ञान, स्वरूप, स्वप्रकाश अविनाशी, नित्य, तपस्यादि, से दुर्लभ और स्वतंत्र आनन्द की राशि, सर्वव्यापी है और प्रेम से प्रकट भी हो जाते है इन्ही बातो को देखकर डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव का कथन है कि तुलसी, रामानन्द सम्प्रदाय की दार्शनिकता तथा भक्ति सम्बन्धी विचार धारा से बहुत दूर तक प्रभावित थे । इसमें कोई सन्देह नही कि राम के ब्रह्मत्व का सचेष्ट सम्पादन रामचरित मानस में तुलसी दासजी ने किया है इस ब्रह्मत्व की स्थापना के लिये ही सती पार्वती , गरूण की संका का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है सती तर्क द्वारा -

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीन्ह भेद ,

सोकि देह धरि होइन जाहि न जानत वेद ।

पार्वती का भ्रम:-

जौ नृप तनय तो ब्रह्म किम नारि विरह मति मोरि

देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि ।।

और गरूण की संका-

भव बंधन ते छूटहि नर जापि जाकर नाम

सर्व निसाचर बाँधेहु नाग पास सोइ राम ।।

तुलसीदास ने इन संकाओं के समाधान के रूप में विस्मय, हर्ष रहित मन, बुद्धि, वाणी, से अतर्क्य और मन क्रम, बचन से अगोचर ब्रह्म को ही राम के रूप मे माना है इस बात का पुनः-पुनः प्रतिस्ठापन भी किया है वह ब्रह्म होते हुये भी सगुंण किस प्रकार है इस सम्बन्ध में तुलसी का कथन है

जल हिम उपल विलग नहिं जैसे

अतः कहा जा सकता है तुलसी के अनुसार विचार क्षेत्र का निगुर्ण ब्रह्म ही भाव क्षेत्र का सगुण राम है।

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संतसुर आहिं,

कथा सुधा मथि काढ़हि भगति मधुरता जाहि ।

ब्रह्म की जिज्ञासा को तुलसीदास जी ने भक्ति माध्यम के द्वारा ही उपलब्ध बताया ।

" ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति "

तुलसीदास जी ने ब्रह्म को अखण्ड ज्योति स्वरूप निर्धारित किया है जो कि केवल प्रदीप्त द्वारा ही सांसारिक कल्याण करता है। तुलसी ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता, धर्ता व रचयिता भी मानते है।

मनमें राम तन में राम राम राम भज राम रें,

तुलसी ने ब्रह्म को राम का आकार देकर जहां उसकी प्रतिष्ठा, विशिष्ठता एवं सार्वभौमिकता व व्यापकता का प्रसार एवं प्रचार किया वही उन्होने एको देव भवः का पूर्ण समर्थन भी किया है।

तुलसी के राम परात्पर ब्रह्म भी है जो सगुण और निगुर्ण दोनो रूपों का पर्यवसान है।

निर्गुन सगुन विषम सम रूपं ज्ञान गिरा गोतीतम् नूपम् ।

अमल मखिल मनम वद्यम पारं नौमि राम मंजन महि मारम् ।।

तुलसी के राम पूर्ण ब्रह्म है। उन्होने आत्मा द्वारा ही अनुभवित किया जा सकता है। इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नही होती-

विनु पद चलइ सुनउ विनु काना,
कर विनु करम करइ विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी,
विनु बानी बक्ता बड़ जोगी ।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा,
गहइ घ्रान बिनु बास अशेषा ।।

वे सगुण और निर्गुण में कोई भेद नही करते।

सगुनहि अगुनहि कछु भेदा, गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।।

तुलसी ने जहा ब्रह्म के विषय में विशिष्ठा द्वैत वादी सिद्धान्त को अपनाया साथ ही साथ अद्वैतवादी सिद्धान्त का भी समावेश करण किया है। अपने सख्य दास्य भावों मे तुलसी दास जी ब्रह्म के प्रति विशेष आशक्ति को दर्शाया है साथ ही साथ ब्रह्म का अस्तित्व साकार, सगुण स्वरूप देकर उसे सांसारिकता में भी रत रह कर आदर्श माना है जो ब्रह्म की विशिष्टता ही कही जा सकती है।

तुलना :-

महा कवि सूर एवं तुलसी ने जहां पर ब्रह्म के सगुण- निर्गुण दोनो पर बल दिया है वही पर एक ने रूप रस पान द्वारा आनन्दानुभूति दूसरे ने नाम जप द्वारा ब्रह्म ज्ञान की पुष्टि दोनो मे विभेद कराती है । ब्रह्म का अवतार वाद जहा दोनो कवियों ने विष्णु का एक रूप दर्शाया है। वही पर उनके इष्ट एक दूसरे के परिपूरक बताये गये है ब्रह्म के सगुणत्व में सूर का आंतरिक चक्षुओ के द्वारा रूपावलोकन रासलीला का रस पान के द्वारा आत्मिक तृप्ति एवं चमत्कारिक द्वारा ब्रह्म की सार्वभौमिकता बताती है। तो तुलसी द्वारा राम को पुरूषोत्तम कह कर ब्रह्म को और आदेर्श स्थापित कराने का लक्ष्य निर्धारित करता है। तुलसी के सगुण राम अपनी मानवीय सक्ति केद्वारा ही सांसारिक गति विधियों का संचालन है नाम की शक्ति जो भक्ति से पैदा होती है ब्रह्म का साक्षात्कार ही है । सूर के द्वारा आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म रूप का दर्शन ही आदर्श है जो उनके जनमान्धता द्वारा सिद्ध हुयी है । परन्तु उन्होने उसे आकार देकर जहाँ उसकी सरलता एवं सजीव ब्रह्म की विशालता की पुष्टि करते है वही सूक्ष्म अध्यात्मिकताओं को नकारा भी है । तुलसी ब्रह्म को आचरण द्वारा उसे आदर्श का रूप देकर सृष्टि का कर्ता धर्ता बताकर नाम को महत्ता में ही ब्रह्म की यथार्थता सिद्ध करते है। इस प्रकार सूर ने जहा व्यापक सगुणत्व को स्वीकारा दूसरी ओर तुलसी ने सगुण से सूक्ष्म सगुण को अपनाकर उसे निर्गुणता की ओर प्रसारित किया है । सूर के ब्रह्म जहा भक्ति पर आधारित है परन्तु तुलसी के ब्रह्म कर्म द्वारा प्राप्ति का भी रूप अपनाया है । तुलसी ने राम नाम और रामचरित्र दोनो में पतित पावनत्व की अद्भुत छमता ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करती है । जो सूर की भक्ति श्रद्धा और विश्वास से अधिक महत्वपूर्ण है ।

सूर ब्रह्म के तर्क" एवं प्रतिवाद से परे है तो रूपा शक्ति हैं परन्तु तुलसी प्रागाढ आस्था द्वारा बौद्धिकता का प्रयास मानते है जिसे उन्होने विचार और विवेक के द्वारा महत्त्व पूर्ण बताया । सूर ने वैदिक परम्परा मे वैष्णव मत को मान कर कृष्ण {ब्रह्म} को विष्णु अवतार की संज्ञा दी । तुलसी ने घोसित रूप से निवैयर्यक्तिक वैदिक परम्परा का उत्कृष्ट समर्थन किया उन्होने विष्णु के बौद्धावतार को भी उन्होने स्वयं बैष्णो होकर निन्दित किया है ।

अतुलित महिमा वेद की , विदित सकल संसार ।
जेहि निन्दत निंदित भयो, विदित बुद्ध अवतार ।।[1]

अपने को तुलसी ने अपने आराध्य पर ब्रह्म राम से भी बड़ा माना है और अपने मूल्य बोध में सबसे ऊपर प्रतिष्ठित किया है पहली वस्तु है राम का नाम और दूसरी राम का दास ।

" ब्रह्म राम ते नाम बड, राम से अधिक राम के दासा ।"

परन्तु सूरदास जी अपने आराध्य को ही सर्वश्रेष्ठ कहकर उसे आदर्श एवं पूर्ण ब्रह्मत्त्व प्रदान करते है जो उनके मनुज रूपत्त्व के साथ निराकार ज्ञानकी परिधि के भीतर है । सूर कृष्ण को संचालन कर्ता कहकर इष्ट के प्रति अनन्य विश्वास व्यक्ति करते है तुलसी द्वारा राम को धर्म का अवतार कहा गया है।

" रामो विग्रह वान् धर्मः

---

1. दोहावली 646

परन्तु सूर के कृष्ण हमेशा नायक एवं अद्भुत शक्ति के प्रतीक हैं जो धर्म के रक्षक भी हैं ।

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानि ------------

तुलसी ने जहां सगुण ब्रह्म के रूप की उपासना कर उसे निर्गुणत्व की ओर पुनः स्थापित करते हैं यह प्रतिस्थापन सूर के काव्य से अलग दृष्टिगत हैं ।

"जल हिम उपल बिलग नहि जैसे "

अतः सूर सगुण के उपासक है तुलसी के अनुसार विचार क्षेत्र का निर्गुण ब्रह्म ही भाव क्षेत्र में सगुण राम हैं । परन्तु सूर का कृष्ण साकार ब्रह्म का ज्ञान स्वरूप ही हैं ।

सूर - माया :-

सूरदास जी ने तीनप्रकार की माया का निरूपणि किया है वे उसे दार्शनिक रूप में, सांसारिक रूप में और भगवानकी अनुग्रह कारणी शक्ति राधा के रूप में देखते हैं। दार्शनिक रूप में वे माया को ब्रह्म की वंश वर्तिनी मानते हैं श्री बल्लभाचार्य ने माया के इस रूप को व्यामोहिका कहा है। यद्यपि माया में तीनगुण सत, रज, तम हैं । और इन्ही गुणो के समन्वय से सृष्टि की रचना होती है पर सूर के मतानुसार माया यह सृष्टि की रचना कर कार्य ब्रह्म कृष्ण की प्रेरणा से करती है। बल्लभाचार्य ने माया के इस रूप को " करण रूप " कहा है।

व्यामोहिका - रूप :-

सो माया है हरि की दासी निस दिन आज्ञाकारी ,
काल कर्म हम सिव अरू विष्णु हि सबके कारण हरि धारी
पालन सृजन प्रलय के कर्ता, माया को गुन जानों
मोमें रज गुन सिवमें तम, विष्णुहि सतगुन मानों ।

करण- रूप :-

" हरि इच्छा करि जग प्रगटायों,
अरू यह जगत जदपि हरि रूप है तऊ मायाकृत जानि ।"

यह जगत माया प्रसूत होने के कारण माया के वश में है और माया ब्रह्म की वशवर्तिनी हैं पर माया की शक्ति अपार है वह जब अपनी शक्ति का विस्तारण करती है तब ब्रह्म तक को ढ़क कर कुछ क्षणों के लिये उसकी भी सत्ता विलुप्त कर देती हैं ।

यह कमरी कमरी करि जानति ,
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति ।

या कमरी के रोम-रोम पर वारौ चीर नील पातम्बर,
सो कमरी तुम निदंति गोपी जो तीन लोक आदम्बर
कमरी के बल असुर संहारेकमरिहि ते सब धोग ,
जाति-पांति कमरी सब मेरी सूर सबहि सब जोग ।

सूर का भक्त हृदय मायायुक्त ब्रह्म की उपासना पसंद नही करता इस लिये वे कृष्ण से कमरी का त्याग करने को कहते है पर माया ब्रह्म का ही एक अंग हैं जिसे कृष्ण त्यागना नही चाहते । भगवद् भक्ति के लिये भक्त का माया विरहित होना आवश्यक हैं क्योंकि माया ही अविद्या हैं और अविद्या उपासना के मार्ग की बाधा हैं। सूर की दार्शनिकत माया की अविद्या स्वरूप की निन्दा करते हैं वे माया के अविद्या रूप को त्याग करना चाहतें है परन्तु अन्य रूपों की उपासना भी स्वीकार करते हैं " माया महा ठगानि हम जानी" को स्वीकार कर " अविद्या दूर करहु नन्द लाल " इस अविद्या से पृथक भी माया के दर्शन करते है ।

सूरदास जी माया का सांसारिक रूप नारी के रूप में देखा जिसे माया ब्रह्म को मोह कर उसकी सत्ता कुछ क्षणों को तिरोहित कर देती हैं उसी प्रकार यह नारी रूप माया संसार को मोह कर कुछ क्षणों को उसकी सत्त तिरोहित करने में सहायक है जिससे साधना मार्ग अवरूद्ध हो जाता हैं

कान्ह तुम्हारी माया महाप्रबल, सब जगअपयस कीनो हो ।
नेक चितै मुसकाई के उनि, सबको मन हार लीनौ हौ ।।

पहरे राती कंचुकी शिर श्वेत उपटना सोहै हौ ,
कटि नीली लहंगा कस्यों, सोको जो निरखिन मोहे हौ।

कही माया को गाय के रूप देकर उसे सांसारिकता से दूर करने का प्रयास किया हैं ।

" माधवजू नैकु हट को गाइ "

तथा सूर ने माया से विभेद करके भी कृष्ण को राधा द्वारा माया से अवलंम्बित बताया है।

प्रकृति पुरूष एके करि जानौ, बातनि भेद करायो ।
जल थल जहा रहौ तुम विनु नहि, वेद उपनिषद गायौ ।।
दै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायों ।
ब्रह्म रूप द्वितीया नहि कोई , तब तन प्रिया जनायौ ।

सूरदास जीनेनमाया को संसार की सत्ता बताया है जो वास्तव में मिथ्या है जो जगत मिथ्या ब्रह्म सत्यं को परिभाषित करती है वे कहते है । " हे प्रभु यह संसार माया और शरीर मिथ्या हैं फिर हम आपको कैसे भूल गये ? कृष्ण ब्रह्मा से कहते हैं मेरी माया बड़ी अगम हैं इसका पार पाना किसी के लिये सम्भव नही हैं "

स्वभावत: सूर भक्त कवि ही है उनके दार्शनिक दृष्टि कोणों में दर्शन की शामान्य बातें ही हैं। उनकी रचनाओं में कही भी पुष्टि व मर्यादा शब्द नही आया स्वभावत: भक्ति प्रवाह में ये बातें आयी हैं।

तुलसी - माया :-

तुलसीदासजी मात्र युग-द्रष्टा ही नही आत्म-द्रष्टा कवि भी थे, विचार और विवेक की आधार भूमि पर उन्होने ब्रह्म को माया से अलग बताया है । तुलसी का मत हैं कि माया का आवरण हटते ही ब्रह्म की सत्ता दिखाई देने लगती है यह उसको उप सत्ता मात्र ही है क्योंकि राम से स्वतंत्र नही वहतो राम की रचना शक्ति है ।

मम-माया संभव संसारा , जीव चराचर विविध प्रकारा ।

राम की ऐश्वर्य शीलता एवं राजसी शक्ति की वैभव विपुलता को माया का स्वरूप बताया जो राम के द्वारा ही है।

व्याधि रहेउ संसार, महुँ माया कटक पचंड ।
सेनापति कर्मादि , मट दम्भ कपट पाखण्ड ।
सोदासी रघुवीरकै, समुझे मिथ्या सोइ ।
छूट न राम कृपा विनु , नाथ कहा पद सोइ ।।

तुलसीदास इस माया का अमिट प्रभाव मानते है रवि, विरंचि, सुरनर, मुनि, नाग, आदि सभी को नचाने वाले यह माया अत्यधिक प्रबल हैं यही माया प्रभु से शक्ति ग्रहण कर ब्रह्माण्ड का सृजन करत है ।गगन, समीर, अनल, जल, धरनी यहसब। माया के ही उपजाये हुये है

गगन, समीर, अनल, जल, धरनी
इन्हकर नाथ सहज जड़ करनी ।
तब प्रेरित माया उपजाये ,
सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए ।।

जहातक माया के विषय में तुलसी का विचार अद्वैत वाद में था ऐसा डा० बल्देवप्रसाद मिश्र का मत ही इस बात की पुष्टि के लिये ।

1- झूठहु सत्य जाहि विनु जाने ।
जिमि भुजंग बिनु रजु- पहिचाने।
नेहि जाने जग जाई हो राई ।
जागे जथा सपन भ्रमजाई ।

2- रजत सीव महुँ मास जिमि, जथा भानुकर वारि
जद्यपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टालि ।।

3- चितव जो लोचन अगुलि लाए, प्रगट जुगल ससि तिन्हके भाए,

× × × ×

तुलसी ने माया के पूरे परिवार का भी वर्णन भी किया हैं (अक्षरकांड लोभ, मोह, तृष्णा, क्रोध, मद , यौवन, ममता, मत्सर, चिन्ता, शोक, काम, दम्भ, कपट, पाखण्ड) परन्तु वास्तविकता में यह कि यह माया राम की ही दासी है ।और रामकृपा हो जाने पर इससे मुक्ति मिल जाती है। तुलसी ने इस समस्त प्रपंचात्मक जगत को माया को उपाधि दी है।

गो गोचर जह लागि मन जाई, सो सब माया जानेउ भाई

यह माया समस्त जीवों को ही नही वरन चराचर को को भी अपने बस में कर सकती हैं ।

जीव चराचर करन के राखे

किन्तु यह माया जो सारी जगत को नचा रही है प्रभु के भ्रूविलास पर अपने समाज के संहित नही के सदृश्य नचाती है ।

जो माया सब जगहि नचावा, जासु चरित लखि काहुन पावा
सोइ प्रभू भ्रूविलास खगराजा , नाच रही इव सहित समाजा

ऐसा कौन है जो माया के मोह में नही है ।

जेहि न मोह अस को जग जाया ।

तात्त्विक रूप से माया ईश शक्ति है पर

" मनोमाया का रूप है जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।

मै अरू मोर तोर तै माया, जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।

माया के दो रूप विद्या व अविद्या, भक्त को अविद्या नही व्यपपतो है

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या, प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ।।

तुलना :-

सूरदासजी ने जहाँ माया ब्रह्म का दूसरा रूप कहा है परन्तु तुलसी ने ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही माना है।

माया के द्वारा ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करते हुये जहा सूर ने ब्रह्म को चमत्कारी बताया है वही तुलसी ने ब्रह्म का तेज बताकर उनके द्वारा स्थापित कार्य को बताया जो सांसारिकता के रूप में उभरा सूरदास जी माया की विशिष्ठता सिद्ध करते हैं उनके कृष्ण अत्यधिक मायावी है जो माया रचते हैं वही ब्रह्म हो जाता हैं परन्तु तुलसीदास जी ब्रह्म का ऊपरी आवरण माया को बताते हैं जिसे हटते ही राम के दर्शन हो जाते है उसी की सत्ता से माया को आभास हो सकता हैं जिसे नाम स्मरण एवं भक्ति साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है सूर ने ब्रह्म की उपासना माया सहित करने में समर्थ हैं परन्तु तुलसी इन प्रपंचों से दूररहकर ही इष्ट (राम) की पूजा करते हैं सूरदासजी शुद्धाद्वैत वाद होने से माया के वशीभूत है परन्तु तुलसी विशिष्ठाद्वैत के कारण माया को छाया के द्वारा प्रदर्शित करते हैं ।

सूर-जीव :-

सूरदास जी आत्मा (जीव) को ब्रह्म की तरह ही सत्य, सनातन और उसका ही एक अंग मानते है। पर ब्रह्म को शक्ति अनन्त है और जीव की शक्ति सीमित हैं। जीव में सत् और चित् तत्व है पर आनन्द तत्व का आभाव हैं। इसी प्रकार प्रकृति भी ब्रह्म का ही अंग हैं। बल्लभाचार्यजी के अनुसार ही सूर ने जीव के तीन प्रकार माने है। जिस जीव को मुक्ति नही होती वह नित्य सांसारिक इससे भी हीन, कोटि के जीव, अपने स्वार्थपूर्ण और कलुसित जीवन यापन के कारण अंधकार पूर्ण स्थानो में निवास करना पड़ता हैं। वह तमोयोगिन और मुक्ति प्राप्त करनेकी रखने वाली उच्चात्माएं मुक्ति योगिन जाव केहेगये है।

1. नित्यसांसारिन :-

" जौलौ सत्य स्वरूप न सूझत ।"
तब लौ मृगमद नाभि बिसारे, फिरत सकल बन झूमत ।
अपुनौ ही मुख मलिन मंदमति, देखत दर्पन माहि ।
ता कालिमा मैंटिबैं कारन, पचत पकरत छाँहिं ।

सूरदासजी ने जीव के अन्य रूपों को भी दर्शाया हैं ।

2. तमोयोग :-

" क्या सुनि तजौ मसूर की दाल ।
काम न विसरयों, क्रोध न विसरयों, न विसरयों मोह जंजाल
अभ्यागत कोऊ द्वारे आवत, ताकूँ बतावत काल ।
घर में जाइ बड़ाई करत है, कैसे कियों निकाल ।
लकड़ी धोय चौका मे धरत है, चलत देत मानों फाल ।
सूरदास ऐसे कपटी को, कैसे मिलेगे गोपाल ।।

इसके अतिरिक्त जीव की उत्कृष्ट अवस्था जो मुक्ति दायक हैं ।

3- मुक्तियोगिन :-

ज्ञानी सदा एक रस जाने, तनके भेद, भेद नहि माने
आत्मा सदा अजन्म अविनाशी, ताको देह मोह बद्ध फासी।
तातें ज्ञानी मोह न करें, तन कुटुम्ब सौ हित परिहरै ।
जब लगि भजे न चरन मुरारी, तब लग होइन भवजल पारी ।।

सूरदासजी के अनुसार जब ब्रह्म की ईच्छा एक से अनेक होने की हुई तब उसने अक्षर ब्रह्म भूत अंश अनेक जीवों को जन्म दिया। जिस प्रकार अग्नि से अनेक चिनगारियों निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म के "चिद्" अंश से नाना विध असंख्य जीवों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म के इसी अंश से जड़ प्रकृति और आनन्द अंश से उसके अन्तर्यामी रूप प्रकट हुये । इस प्रकार श्री बल्लभाचार्य के मतानुसार जीव अंश है और ब्रह्म अंशी । सूर ने भी इसी को स्वीकारा है ।

सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि,
माया सब विधि काल ,
प्रकृति पुरूष श्रीपति नारायण,
सब हैं अंश गोपाल ।।

इसके अनुसारजड़ जगत से ब्रह्म का चित और आनन्द स्वरूप पृथक होजाता हैं आनन्द स्वरूप के पृथक होने के छः प्रमुख कारण है।- "ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य विलुप्त होजातें हैं। " और इसी लिये जड़ जगत में बन्द और विपर्यय होता है और जीव भ्रम में पड़ कर संसार चक्र में घूमतारहता है। जीव ब्रह्म मय होते हुये भी उपर्यूक्त गुणों के अभाव से अपने आप को भी पहिचानने में असमर्थ हो जाता है।

अपुनपै आपुन ही बिसरयों,

जैसे स्वान काँच मन्दिर में, ।

भ्रमि-भ्रमि भूखि मरयों ।।

चित और आनन्द स्वरूप का अभाव होने पर भी जीवमें ब्रह्म का सत् स्वरूप रहता है जीव जब तक इस सत् स्वरूप को नही जानता तब तक वह भ्रम में पड़ा घूमा करता है।

जब लौ सत् स्वरूप नहि सूझत,

तौ लौ मृग मद नाभि बिसारें,

फिरत सकल बन बूझत ।।

सूरदास जी ने स्वरूप ज्ञान के लिये तीन मार्ग- योग सिद्धि दिव्य ज्ञान और भगवद्कृपा बतलाये है। उनकी दृष्टि में इनमें से भगवत कृपा मार्ग सबसे सरल हैं यही पुष्टि मार्ग का आधार है।

मन बच क्रम मग गोविन्द सुधि, करि,

सुचि रूचि सहज समाधि साज शठ,

दीनबन्धु करूणामय उर धरि,

मिथ्यावाद विवाद छौड़ि कै काम क्रोध मद लोभहि परि हरि।

चरण प्रताप आनि उर अन्तर ,और सकल सुखं या सुख नर करि

वेदन कह्यों स्मृति हूँ भाख्यों, पावन पतित नाम निज नर हरि

सूरदास के अनुसार जीव अणु मात्र है और उसका तेज, प्रकास अथवा गन्ध को सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ हैं। जीव ब्रह्म का अंश है इसी लिये उसमें अल्प सामर्थ्य है।

" सहस रूप बहुरूप पुनि, एक रूप पुनि दोय ।"

इसके अनुसार जीव ब्रह्मांशी होने पर भी माया के कारण अपने में और ब्रह्म में भेद समझता है यदि माया का आवरण दूर हो जाये तो दोनो में भेद नही रहता भगवत कृपा से जीव माया से मुक्त हो जाता हैं ।

तब उसे आत्म सवरूप का बोध हो जाता है। वह द्वैत - भावना त्याग-कर ब्रह्म मय हो जाता है।

" आपुन नयो आपुन ही मै पायों।"

शब्दहि शब्द भयौ उजियारी,
सद गुरू भेद बतायों ।
ज्यों कुरंग नामी कस्तूरी,
ढूढ़त फिरत भुलायों ।
फिरि चितयों जेंब चेतन ह्वै करि,
अपने ही तन छायौ ।
राजकुमार कंठ-मनि-भूषन,
भ्रम भयौ कहूँ गवायौ ।
दियौ बताइऔर सखियन तब,
तनु को ताप नसायों।
सपने माहि नारि कौ,
भ्रम भयो, बालक कहूँ हिरायों।
जागि लख्यौ, ज्यौ की त्यौ ही है.
ना कहुँ गयो न आयौ।
सूरदास समुझे की यह गति,
मन ही मन मुसकायौं।
कहि न जाइ या सुख की महिमा,
ज्यौ गूँगे गुर खायौ।।

तुलसी-जीव:-

तुलसीदासजी ने जीव की परिभाषा इस प्रकारकी है कि जो माया, ईश्वर और स्वयं अपने को नही जानता है वही जीव है।

माया ईस न आपु कहँ जानि कही सो सो जीव ।

जीव ईश्वरका अंश है चेतन, अमल और सहज सुख की राशि हैं।

ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी ।

ईश्वर एक है किन्तु जीव अनेक हैं। ईश्वर स्वतंत्र है किन्तु जीव परतन्त्र: हैं ।

परवस जीव स्वबस भगवन्ता, जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।

वैसे यह जीव नित्य ही स्वयं राम का तारा से कथन हैं-

छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यहअधम शरीरा ।

प्रकट सो तनु तब आगें सेंवा, जीव नित्य के हि लसोअमसेवा

इस जीव का कल्याण तब तक नही है जब तक वह राम की शरण में नहीं जाता ।

तब लगि कुशल न जीव , कहु सपनेहु मन विश्राम ।

जब लगि भगति न राम कहु, सोक धाम तजि काम ।।

इस जीव को तो कर्मो का फल भोगना ही पड़ता हैं। यह तुलसी का निश्चितमत हैं। जी

जीव करम बस सुख-दुख भागी,

या

करइ जो करम पाव फल सोई,।

निगम निति उस कह सब कोई

या

काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता ।

निज ब्रत करम योग सब ताता।

तुलसीदासजी ने तीन प्रकार के जीव माने है - विषयी ,साधक और

सिद्ध की श्रेणी में संत भक्त जैसे पहुचे हुये जीव तुलसीदासजी के अनुसार आते है पहुँचा हुआ जीव ब्रह्म सादृश्य प्राप्तकरके काम, क्रोध, लोभ, पर विजय पा लेता है। वह बिना किसी स्वार्थ के जगत का हो जाता है जीवो के सम्बन्ध में जन्मान्तर या योनि परिवर्तन पर तुलसती का विश्वास था। –

आकर चारि लच्छ चौरासी, जोनि भ्रमत यह जिव

तुलसी दासजी ने देवताओं को जीव की कोटि में रखा हैं जीव उस निर्मल जल के समान हैं जो भूमि के स्पर्स से अशुद्ध हो है। जिस प्रकार अविनासी , नित्य, चेतन, सुखराशि रूपी ईश्वर माया के प्रभाव से कलुसितहोजाता है।

माया बस्य जीव अभिमानी, ईस वस्य माया गुन जानी ।

" माया बस परिधान जड जीव की ईस समान हरष, विषाद, ज्ञान अग्यान।।"

जीव धर्म अहमिति अभिमाना, [illegible]

भूमि परतभा ढाबर पानी , जनुजीवहि माया लपटानी।।

तुलसीदास ने जीव की तीन अवस्थाए बताई है। जाग्रत, स्पप्न, सुषुप्ति । निद्र मे जीव शिव तुल्य है स्वप्न में वह श्रृष्टि कर्ता है और जाग्रत आवस्था में जड, दुखी और सांसारिक हो जाता है गोस्वामीजी ने जीव के परम्परागत चार प्रकार माने है– उदि्भज स्वेदज, अणुज और जरायुज – और चौरासी लाख योनिंया भी जिसमें जीव भ्रमर करता हुआ मानव शरीर को प्राप्त करता वे नर तन की महिमा गातें हैं।

नर–तन सम नहिं कवनिउ देही।

जीवचराचर जाचत नेही।

नरक स्वर्ग अपवर्ग निशेनी ,

ग्यान विराग भगति सुभदेनी ।

सो तनु धरि हरि भजेहि न जे नर,

होहि विषय रत भेद भेदतर ।

काँच किरिच बदले तेलेहीं,

करते डारि परस मनि देही ।।

तुलसी के जीव ब्रह्म के द्वारा निर्मित उसी के अंश हैं। तुलसीदासजी ईश्वर और जी के मध्य नियम्यनियात्मक तथा अंशासि-भाव का संम्बन्ध स्वीकार करते है वे जीव को ई श्वर स्वरूप अथवा ब्रह्म स्वरूप नही मानते है अंशासिभाव के आधार पर वे तत्वमसि का अर्थ कि " तद् " का अर्थ है सर्वज्ञ , सर्वशक्ति मान और त्वम काअर्थ अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव में स्थित ईश्वर हैं।

जो इनका सिद्धान्त विशेष अद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत के रूप में जाना जाता है इसमें ईश्व और जीव में स्वामी सेवक का सम्बन्ध हैं।

जीवात्मा :-

तुलसीदासजी के जीवात्मा सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें उनके" नाना पुराण निगमागम सम्मत " एवं "क्व-चिदन्यतोऽपि" दोनो दृष्टि कोणो को समझना चाहिये।उनके समग्र साहित्य का मंथन करने से प्रतीत होता है कि उन्होने जीव को दो दृष्टि कोणों से परखा है । एक है आधिभौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक दर्शन परम्परा में आधि भौतिक दृष्टिकोण तो प्राय: सभी दर्शनाचार्यो ने अपनाया था। किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तु करना तुलसीदासजी की मौलिकता है।

जीवात्मा का स्वरूप :-

तुलसीदास जी जीवात्मा एवं परमात्मा में तत्वत: कोई अन्तर नही मानते दोनो सदा एक रूप, एक रस और अखण्ड है किन्तु लीला के कारण सेवक , सेवा , भाव से

एवं सहज सुखराशि हैं । ईश्वर का अंश होतें हुये भी माया वश उसकी जीव संज्ञा कहलाती है।

कहने का तात्पर है कि मायोपधिक ईश्वरही जीव कहलाता है वह वस्तुत: अविनाशी हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने पुराने वस्त्रो को त्याग कर नये वस्त्र पहनताहै उसी प्रकार अविनाशी जीव आत्मा अपने पुराने जीर्ण-सीर्ण शरीर परिधान को त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेती है।

" निज सहज अनुभव रूप तव,
खल भूलि जो आयों तहाँ ।
निर्मल, निरंजन, निर्विकार,
उदार सुखते परिहरयों ।
नि: काज राज विहाय,
नृप सब सपन काराग्रह परयों।।"

स्वरूप ज्ञान होते ही जोव को परमावस्था प्राप्त हो जाते है।

निर्मल , निरामय, सकरस,
तेहि, हर्ष-शोकन व्यापई ।
त्रैलोक- पावन सो सदा,
जाके दशा ऐसी भयी ।"

जोवात्मा पंच भौतिक मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों से विलक्षण सुद्ध एवं नित्य है।

छितजल पावक गगन समीरा,
पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा,
जीव नित्य केहि लागि तुम

चेतन, अमल, सहज, सुखराशि एवं अविनाशी ईश्वरांश जीव ही मायाविभूति होकर आत्म स्वरूप को भूल जाता है और सांसारिक कहलाता है जड़ (माया) एवं चेतन का गठ बंधन यद्यपि मिथ्या हैं फिर भी कीट एवं मरकट की भांति भ्रान्त। जीवसुखी नही हो पाता है।

" जिय जबते हरिते बिलगानो,
तबते देहगेह निज जान्यो ।
मायावश स्वरूप बिसरायों ,
तेहि भ्रमते दारूण दुख पायों।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से जीव के छः धर्मों का निरूपण करते हुये गोस्वामीतुलसीदासजी कहते है।

" हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना,
जीव धर्म अहमिति अभिमाना, ।"

अर्थात जीव सुखी-दुखी , ज्ञानी ,अज्ञानी,अभिमानी एवं जड़ कहा जाता है अहमिति के कारण जीव अपने को ईश्वर से स्वतंत्र और भिन्न समझने लगता है इसी को तुलसीदासजी ने जड़ चेतन ग्रंथि कहा है । यह ग्रंथि वाह्य प्रयत्नों से नही छूट सकती है। वेदान्त दर्शन में इसी को हृदय ग्रंथि कहतें है। जीव को कर्म करने को स्वतन्त्रता हैं और वह अपनी करनी के अनुसार ही फल पाता हैं। संसार कर्म प्रधान है जो जैसा बोता है वैसा काटता है ।

तुलना :-

सूरदासजी, ब्रह्म वादी हैं उनके अनुसार जीव नित्य है उसकी उत्तपत्ति नही होती है इस मत में जीव को अणु माना जाता है और उसका तेज दीपालोक अथवा गन्धा की भांति सारे शरीर में व्याप्त है जीव का चैतन्य गुण है जो सर्वव्यापी है सूर के अनुसार ब्रह्म का प्रधान धर्म आनन्द है जीव में यह धर्म अप्रत्यक्ष है उसके प्रत्यक्ष होते ही जीव ब्रह्म मय हो जाता है। सूर के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण सत्य है अथवा विशेषता में ही उनमें पृथकता दिखाई देती है। किन्तु ऐश्वर्यादि गुणो से युक्त होने पर जीव और ब्रह्म एक हो जातें है।

गोस्वामी के अनुसार जीव और ब्रह्म में उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार जल एवं तरंग में "अयम् आत्मा ब्रह्म " के रूप में दर्शाते है। उन्होने जीव को मनोवैज्ञानिक एवं आधि भौतिक दोनो दृष्टि कोणों से देखा जीव-माया परिछिन्न, स्वार्थी, अभिमानी, जड़ एवं परवस है इसी लिये वह हर्ष, शोक , ज्ञान, अज्ञान का विषय है आधि भौतिक दृष्टि कोण से तुलसी जीव को नित्य, अविनाशी चेतन, सुद्ध एवं सुखरासि मानतें है। जीव का कीट मरकट की भांति सांसारिक नृत्य करना तथा अनेकता का अनुभव माया अथवा अज्ञान के कारण भी है। ब्रह्म एवं जीव में जल बीच की भांति अभेद है उनकी सोऽहम् की अखण्डावस्था की भावना भ्रम एवं माया का खण्डन करदेती है और जीवात्मा सच्चि-दानन्द मय हो जाती है। गोस्वामीजी के जीव के सम्बन्ध में इस विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होने जीव को मनोवैज्ञानिक एवं आधि भौतिक दोनों दृष्टि कोणो से देखा है।

निम्न पंक्तियों में गोस्वामीजी ने अपना दार्शनिक दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है ।

धरनि धाम धन पुर परिवारू,
सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू ।
देखिए सुनिय गुनिय मन माँही,
मोह मूल परमारथ नाही ।।

इस स्पष्टीकरण से तुलसी के विचारधारा में किसी प्रकार का भ्रम नही रह जाता कि उन्होने अद्वैत के व्यवहारिक एवं पर- मार्थिक दोनो पक्षों का समर्थन करके परमार्थतः अद्वैत की ही स्थापना की है। डा० बल्देवप्रसाद मिश्र का भी यही विचार है कि व्यक्ति- त्वाभिमान विध्वंस के लिय यो भी विशिष्ठा द्वैत की अपेक्षा अद्वैत वाद ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि विशिष्टा द्वैत मत में तो जीव का व्यक्तित्व नष्ट नही होसकता जो विशिष्टा द्वैत को अपेक्षा अद्वैत वाद ही अधिक समर्थ हो जाता है।

गोस्वामी जी मे साम्प्रदायिकता तो थी हो नही इसी लिये उनके समान गम्भीर तत्व दर्शी ने अद्वैत सिद्धान्त को इस प्रकार अपना- लियो । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा तुलसी परमार्थ दृष्टि से शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को तो मान्य है परन्तु व्यवहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना ही अच्छा समझते है।

सूर- मोक्ष :-

जिस प्रकार दर्शन शास्त्र के सभी विद्वानो ने सांसारिक दुखो से मुक्त होकर आनन्द प्राप्ति की अवस्था को मोक्ष कहा है सूरदासजी ने भी दुखो के आभाव में प्राप्त नित्यानन्द अवस्था को मोक्षावस्था कहा है एवं माना है पुष्टि मार्ग के अनुसार भगवान की इच्छा के अनुसार भक्त जीव आनन्दा वस्था प्राप्त करता है । मर्यादा मार्गी जीव वेदोक्त साधनो द्वारा चार प्रकार की मुक्ति - सालोक्य, सामिप्य , सारूप तथा सायुज्य, में से किसी एक को प्राप्त करता है यह जीव निश्चित अवधि के बाद पुनः संसार में आ सकता है परपुष्टि मार्ग के अनुसार भक्त मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात फिर संसार में जन्म नही लेता वह सदा के लिये जन्म, मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है पुष्टि मार्गियों का यह विश्वास है कि भगवान कृष्ण की भक्ति करने वाला जीव उसकी कृपा से नित्यानन्द लीला का रसा-स्वादन करने में समर्थ होता है इसी प्रकार वे मानते है कि पुष्टि मार्गीय जीव की मुक्ति के लिये प्रारब्ध फल का भी कोई महत्त्व नही है भक्त के लिये सभी दुश्कर्म और उनका फल भगवद् कृपा से विनिष्ट हो जाता है।

जो सुख होत गुपालहि गाये,
सोनहि होत जप तप के कीन्हे कोटिक तीरथन्हाये।
दिये लेत नहि चारि पदारथ, चरण कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत , नंद नंदन उर आये ।
बंशीवट वृन्दावन यमुना तजि, को बैकुण्ठ को जावें ।
सूरदास हरि को सुमिरन करि, बहुरि न भव जल आवै।

सूर ने सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, और सायुज्य के अतिरिक्त एक प्रकार का मुक्ति मार्ग और माना है वह है सायुज्य अनुरूपा मुक्ति इसकी अवस्था को स्वरूपानन्द अवस्था कहा है। इसे सभी मुक्तियों में श्रेष्ठ माना है इस मुक्ति में भक्त भगवानकी संयोग और वियोग दोनो से सम्बनिधत लीला में नित्य दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करता है गोपियों ने ब्रज में रहकर भक्ति को इसी अवस्था का आनन्द प्राप्त किया था ।

योगी होइ सो योग बखाने, नवधा भक्ति दासरति माने।
भजनानन्द अली हम प्यारो, ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारों।

सूरदासजी के अनुसार मुक्ति (मोक्ष) के लिये भक्ति आवश्क है पर यह भक्ति विना भगवान के अनुग्रह के प्राप्त नही होती है। इस भगवद्- अनुग्रह को ही पुष्टि कहा है और इसीलिये उनके द्वारा प्रतिस्थापित भक्ति मार्ग को पुष्टि मार्ग कहा गया है सूर की मुक्ति इसी सिद्धान्त पर आधारित है उनमें इसी मार्ग के तत्त्व और भावनाये समन्वित है। ज्ञान मार्ग की अपेक्षा साधना मार्ग अथवा पुष्टि मार्ग सहल एवं सुगम है असी लिये इसे उन्होने सब के लिये, (सर्वसाधारण) योग्य और अधिक श्रेष्ट कहा है उनके मतानुसार पुष्टि मार्ग के द्वारा मुक्ति प्राप्ति करने वाली जीवात्मा सदैव के लिये गोलोक में जाकर भगवान कृष्ण के साथ निवास करती है । उन्होने पुष्टि के भी चार प्रकार बतलाये है । प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि, पुष्टि और सुद्ध पुष्टि ।

सूरदास के कृष्ण भक्तो की भक्ति इस शुद्ध पुष्टि के मार्ग पर आधारित है जिसमें उन्होने भक्ति के दर्शन वात्सल्या सक्ति सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्म निवेदनासक्ति तन्मयाशक्ति और विरहासक्ति के रूप में देखते है विरहासक्ति के मार्ग अन्तिम अवस्था है जिसके पश्चात् भक्ति शरीर त्यागकर गोलोक मे चला जाता है जहाँ भगवान कृष्ण के चरणो में सान्निध्य प्राप्त करना हो समाधिष्ट मुक्ति प्राप्त करता है।

सूरदासजी ने इस मोक्ष को इस प्रकार व्यक्त किया है

" चकई री चलु चरन सरोवर,
जह न प्रेम वियोग ।"

यह पक्ति मुक्ति की ओर इंगित करती है भगवान कृष्ण के साथ उन्हीं के समान कार्य करना सारूप्य मुक्ति कहलाती है जब भक्त इश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है तब सायुज्ज मुक्ति की प्राप्ति होती है सूर ने बल्लभाचार्य जी की तरह इसी मुक्ति पर विशेष बल दिया है पुष्टि मार्ग के अनुसार यह मुक्ति दो प्रकार को होती है एक तो संसार के कष्टों से मुक्ति और दूसरे सदैव सुख की प्राप्ति सूर द्वारा निरूपित संयोग और विप्रलंभ के पद सायुज्य मुक्ति के इन दो प्रकारों केही उदाहरण है उन्होने प्रथम प्रकार की मुक्ति से सम्बन्धित पद रासलीला में और दूसरी प्रकार मुक्ति विषयक पद भ्रमरगीत में दिये है इन दोनो प्रशंगो के अतिरिक्त भी सूर के कुछ पद सायुज्य मुक्ति से सम्बन्धित मिलते हैं।

" नमो नमो हे कृपा निधान,
चितवत् कृपा कटाक्ष तुम्हारै, मिटि गयो तम-अज्ञान ।
मोह निसा को लेस रह्यो नहि, भयौ विवेक-विहान, ।
आतम रूप सकल घट दरस्यों, उदय कियो रवि ज्ञान ।

मै मेरो अब रहो न मेरै, छुट्यौ देह अभिमान ।
भावै परौ आजुहो यह तन, भावै रह्यौ अमान ।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान् ।
श्रवन करौ निसि बासर हितसौं, सूर तुम्हारी आन।।

तुलसी- मोक्ष:-

महाकवि तुलसीदासजी ने भक्ति को साध्य और साधना दोनो ही रूपो में माना है साधन रूप में-

विनुहरि भजन न जाहि कलेशा,

अथवा- विनुहरि भजन न भव भयनाशा

अथवा- सुखकी लहहि हरि भगति विनु

तथा साधक के रूप में इस प्रकार बताया है:-

अर्थ न धर्म न काम रूचि गतिन चहुँ निखान ।

जन्म जन्म सिय राम पद, यह बरदान न आन ।

अर्थात यह मनुष्य देह साधकों की धाम और मोक्ष का साक्षात द्वार है केवल निर्मल मन की आवश्यकता है।

निर्मलमन जन सो मोहि पावा , मोहि कपट छल छिद्र न भावा त्रिताप-पपीड़ित मनुष्य मुक्ति चाहता है तुलसीदासजी ने मुक्ति का दो प्रकार की मुक्ति का उल्लेख किया है विदेह मुक्ति और जीवान्मु मुक्ति परम्परागत चार प्रकार की मुक्ति की चर्चा भी तुलसीदास जी की कविता में उपलब्ध है सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य । निजधाम ममधाम निरूपद आदि शब्दों में सोलोप्य अभीष्ट है । मारीच को निज पद वाली और कुम्भकर्ण को निज धा , जटायु को हरिधाम, अथवा मम धाम मिला था जटायु गृध रू को छोड़कर भगवद रूप को प्राप्त हुआ और युद्ध क्षेत्र में मरे राक्षस भी भगवद रूप को प्राप्त हुये । सबरी और रावण को सायुज्य प्राप्त हुये मुक्ति के अर्थ में " कैवल्य"शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

" अति दुर्लभ कैवल्य परमपद, " ·

मुक्ति के पश्चात पत्यावर्तन नही होता-

"तजि जोग पावक देह हरि पद लीन, भइ जहँ नहि फिरे ।

मुक्ति के मार्ग :-

गोस्वामीजी ने मुक्ति के तीन मार्ग माने है:- कर्म, ज्ञान, और भक्ति । संसार में कर्म प्रधान होता है जैसा मनुष्य करता है वैसाही भरता है।

करम प्रधान विस्व रचि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा।

ज्ञान, वैराग्य, जप, तप, यज्ञ, आदि अनेक और समर्थ साधन हैं किन्तु तुलसीदास समझते है कि योग ब्रत संयम, जप पूजाआदि निरर्थक है

करतहु सुकृत न पाय सिराही, रकत बीज जिमि बाढ़त जाही।

धार्मिक कृत्यों की उपयोगिता इस बात में है कि वे जीव के मन में विषयों के प्रति वैराग्य उत्तपन्न करते है।

धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना, ज्ञान मोक्ष प्रद वेदबखाना ।

ज्ञान परमार्थ की पहचान कराता है और बताता है कि तुम कौन है ज्ञान और विज्ञान को मानते हुये उसमें भेद किया गया है यदि ज्ञान सानुमान प्रत्यक्ष है तो [illegible] विज्ञान अनुमान रहित प्रत्यक्ष हैं। ज्ञान में मान नही होता है किन्तु उसके द्वारा ऐसाप्रतीत होता है कि यह सब कुछ ब्रह्म है ।

ज्ञान मान जह एकौ नाहीं, देखs ब्रह्म समान सब माही ।

ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान श्रेयस्कर है ज्ञान का सम्बन्धविराग और विज्ञान का सम्बन्ध समता से है ज्ञानी की अपेक्षा विज्ञानी राम को अधिक प्रिय है ।

ज्ञान कि होइ विराग विनु ,

विनु विज्ञान की समता आवइ ।

ज्ञानिहु ते अति प्रिय विज्ञानी ।।

ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नही क्योंकि दोनो के ही द्वारा सांसारिक खेद का नाश हो जाता है।

भगतिहिं ज्ञानहिं नहि कछु भेदा, उभय हरहि भव संम्भव खेदा।

यह बात अवश्य है कि ज्ञान मार्ग कठिन है और भक्ति मार्ग अपेक्षा-कृत सरल है । ज्ञानकी तुलना दीपक से की गई है जो वायु से बुझ सकता है और भक्ति की तुलना मणि से की गयी है जिस पर वायु का प्रभाव नही पड़ता ज्ञान के लिये भक्ति आवश्यक है ।

भगति हीन विरंचिकिन होई,
सब जीवहु सम मोहि प्रिय सोई ।
भगतिवंत अति नीचहु प्रानी ,
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।

विना ज्ञान के विश्वासदृढ़ नही होता है विना [illegible] विश्वास के प्रीति नही होती और विना प्रीति के भक्ति ।

जाने विनु न होइ परतीती,
विनु परतीति होइ नहि प्रीती
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई ,
जिमि खगपति जल के चिकनाई,

एवं

अस विचारि पंडित मोहि भजही,
पायेहू ज्ञान भगति नहि तजही ।

भक्ति के द्वारा मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध बताया गया है। तुलसीदासजी कहते है कि सगुण उपासक मुक्ति चाहता ही नही है और दूसरा यह है कि भक्ति पर मुक्ति आश्रित है और यह भक्ति का भी परिणाम है ।

सगुणोपासक मोक्ष न लेही,
तिन्ह कहु भेद भगति प्रभु देही ।

ऊँचे से ऊँचा मोक्ष भगवद् शक्ति के द्वारा प्राप्त हो सकता है।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद, संत पुरान निगम आगम बद ।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं, अन इच्छित आवइ बरि आई।

रामभक्ति की महिमा को तुलसी ने प्रकट किया है.-

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा, राम ते अधिक राम कर दासा।

तुलसीदासजी ने बताया कि भगवत्कृपा के बिना मुक्ति नही हो सकती है।

अस संयोग ईस जब करई, तबहु कदाचित सो निरूआई ।

भगवान की ही माया से जीव पहले बन्धन में आतें है और फिर उन्ही की कृपा से मुक्त हो जाते है। हनुमानजी भगवान राम से कहते है.-

नाथ जीव तब माया मोहा, सो निसतई तुम्हारे ही छो ।।

तुलसी भगवान एवं भगवद् कृपा के विना भक्तो में विमल विवेक का उदय सम्भव न_ी होता।

हरि गुरू कृपा सतसंगति विनु, विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार घोर निधि. पार न पावै कोई ।
द्विज देव गुरू हरि संत विनु संसार पार न पाइए ।

तुलना :-

सूरदासजी ने मोक्ष को ही परम पुरूषार्थ माना है सूरदासजी विद्या से अविद्या नाश को ही जीवनमुक्ति कहते है। अविद्या पास में बधा जीव सांसारिक क्लेश पाता है और जन्म मरण का भागी होता है इस सम्प्रदाय में अविद्या कल्पित संसार से छूटकर पुरूषोत्तम का सानिध्य प्राप्त करना ही जीवन मुक्ति है

भगवद कृपा द्वारा स्वरूपानंद की प्राप्ति ही मोक्ष है। भक्ति के द्वारा लीला में प्रविष्ट होकर स्वरूपा नन्द प्राप्ति पर सूरदास जी का विश्वास है सूर के द्वारा सांससारिक शरीर स्थिति ने भी भक्त इस सेवा कार्य में निरन्तर रहता है तथा शरीर पात के पश्चात् प्रभु पदत्त विग्रह से वह भजन का आनन्द लिया करता है यह विग्रह अप्राकृत सच्चिदानन्द रूप है। सूर ने बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार गोकुल को बैकुण्ठ से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है ।

मुक्ति के सम्बन्धि में बल्लभा चार्य जी श्रीमद् भागवद के अनुसार ही सद्योमुक्ति और क्रम मुक्ति स्वीकार थी । वैधो भक्ति से क्रम मुक्ति एवं पुष्टि भक्ति से ही सद्योमुक्ति मिलती है। सद्योमुक्ति के अधिकारो भगवान के पुष्टि -पुष्ट भक्त होते है। जिस प्रकार अविद्या को पंच पर्वा कहा गया है उसी प्रकार विद्या भी पंच पर्वा है वैराग्य, साख्य योग तप और भक्ति संयुक्त विद्या पंच पर्वा कहलालती है इससे युक्त साधक ही पुष्टि भक्ति का अधिकारी होता है।

तुलसीदास जो केअनुसार सांसारिक दुख का आत्यन्तिक निरोध ही मोक्ष है। वे जड़ चेतन की मृषा ग्रन्थि के छूटने , देह-जनित विकारों को त्यागने, जीव का आत्म स्वरूप में अनुराग होने जागृत स्वप्न, सुसुप्ति अवस्थाओं को पार कर तुरीयावस्था में पहुँचने और भव शूल भेदाभाव के विनास से आत्मानुभव का सुख ही मोक्ष हैं।

तुलसीदासजी का कथन है कि जब जीव संसार का लय करके अविद्या को हटाकर ब्राह्मी अवस्था में तल्लीन हो जाता है तब भेदात्मक ज्ञान के आन्तरिक विनाश होजाने पर उसे ब्रह्मानन्द की जो अनुभूति होती है वही मोक्ष है।

अतः तुलसी ने आत्म साक्षात्कार द्वारा दुःख की आन्तरिक निवृत्ति को मोक्ष माना है उनके अनुसार भक्ति साधनों द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है।

धर्म के विरति जोग ते ज्ञाना,
ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना ।
जाते बेगि द्रवऊ मै भाई,
सो मम भगति भगत सुखदाई

× ×

ज्ञान भक्ति साधन अनेक, सब सत्य झूठ कछु नाही।
तुलसी हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोष मनमाही
जबलाग नहि निज हृदि प्रकास, अरू विषय आस मनमाही।
तुलसीदास तब लगि जग जोनि, भगत सपनेहु सुख नाही।

सूर-जगत {संसार} :-

सूर बल्लभ के अविकृति परिणाम वाद का प्रतिपादन करते है । कारण स्वरूपतः अविकृत रहते हुये कार्य रूप में परिणत हो जाते है। ब्रह्म जगत के रूप में परिणत होकर भी उसी प्रकार अविकृत बना रहता है। जिस प्रकार सुवर्ण आभूषण बनकर भी अपने स्वरूप को नही खोता है जैसे सर्प अपने को संकुचित और विकसित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी क्रीड़ा के लिये जगत के रूप में बदलता है और फिर समेट लेता है। अतः सृष्टि और प्रलय होता रहता है। इस जगत की सृष्टि और प्रलय का आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में होता है किसी चीज का न अत्यन्त नास होता है न ही विनास ।

जगत के अनीत्य पदार्थ ब्रह्म है तो वस्तुतः चेतन, अचेतन जगत की द्विविधि सृष्टि ब्रह्म से है। माया जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान नही होने देती जो जगत की उत्तपत्ति में हेतु है। उसी का रूप अविद्या है। संसार और जगत में अन्तर है । सांसारिकपन अविद्या कल्पित है और अविद्या का नाश होने पर संसार का नाश हो जाता है किन्तु जगत तो सत्य ब्रह्म का सत्य स्वरूप है अतः नष्ठ नही होता है ।" मै इससे भिन्न हूँ" या यह मुझसे भिन्न है ऐसा द्वैत ज्ञान अविद्या जन्य है जो ज्ञान से नष्ट हो जाता है ।

सूरदास जी ने ब्रह्म और जगत दोनो सत्य माना है, जगत भी ब्रह्म का स्वरूप ही है।

तुलसी-जगत (संसार) :-

जीवात्मा द्वारा संचित कर्म-फल-भोग एवं अज्ञान जनित कर्म प्रवृत्ति की पूर्ति के लिये संसार ही एक मात्र साधन या माध्यम है। चिदात्मा का जगत् द्वारा कल्याण साधन ही होता है। यदि जगत के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाय तो जीव के लिये बन्धन नही रह जाता है। चिदात्मा के लिये संसार उसके अज्ञान के कारण बन्धन सिद्ध होता है।

रामानुज दर्शन में जगत् शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ मे हुआ है ब्रह्माण्ड के चौदह लोक पुराणों में प्रसिद्ध है। अचित एक नित्य द्रव्य है। जगत इसी द्रव्य से निर्मित है। सृष्टि के मूल में परब्रह्म का संकल्प है। ईश्वर के संकल्प से ही सृष्टि होती है इसी लिये जगत के उपादान कारण और निमित्त कारण दोनो की सत्ता नित्य एवं सत्य है रामानुज जगत को ब्रह्मात्मक मानते है। जगत ब्रह्म की ही स्थूल अवस्था है जगत ब्रह्म में ही स्थित है। ब्रह्म ही उसका कारण है और उसका गन्तव्य भी ब्रह्म है। ऐसी स्थिति में जगत को माया अविद्या या अध्यास से उत्पन्न भ्रम कहना उचित प्रतीत होता है। जगत की सत्ता परमार्थिक है क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।

<u>तुलना :-</u>

सूर और तुलसी जगत और संसार को एक ही रूप में मानाहै जहां उन्होंने जगत को नित्य कहा परन्तु संसार को अविद्या एवं माया कहा है।

सूर ने जगत को सत्य मानकर ब्रह्म स्वरूप माना है। तुलसी ने जगत को ब्रह्म, की माया बताया है। जिसके द्वारा उसका अस्तित्व का बोध होता है।

पंचम अध्याय

उपसंहार :-

अब तक जिन विभिन्न दृष्टि कोणों से हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों में सूर, तुलसी के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि विभिन्न भक्ति धाराओं व उनकी शाखाओं के (सगुण, निर्गुण, रामभक्ति, कृष्ण-भक्ति , ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी) दर्शन साहित्य में विरोधी तत्वों के साथ-साथ अनेक बिन्दुओं पर भाव साम्य दृष्टि गोचर होताहै । पहली बात यह है कि दोनो भक्ति धाराओं में ईश्वर की अतर्क्य सत्ता पर अनन्य रूप से विश्वास है । इन दोनो भक्ति धाराओं की दार्शनिक विचारधाराओं में" प्रमाणाभावात्मतत्सिद्ध: " अथवा " अस्ति च ब्रह्मै " और"नास्ति ब्रह्मै"का प्रश्न नही उठाया गया है वरन् सीधे ब्रह्म के निराकार अथवा साकार स्वरूप के प्रश्न पर भी विचार कर उसके महत्व को दर्शाया गया है । यह तथ्य है कि हिन्दी काव्य की दार्शनिक विचार धाराओ की पृष्ठि भूमि अत्यन्त सशक्त शास्त्रीय एवं दर्शन के सिद्धान्तों की परम्पराओं से परि पूर्ण थी।

उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप से सम्बन्धित अनेक मंत्र भी उपलब्ध होते है। ब्रह्म को " न एषः सुविज्ञेय: " कह कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहा गया है। गीता में भी ब्रह्म के निगुर्ण स्वरूप का प्रतिपादन था । परन्तु गीता का झुकाव सगुणत्व की ओर अधिक दिखाई देता है गीता में इस प्रकार के विशेषणो का प्रयोग किया गया है जो कि उसके निर्गुण एवं सगुण दोनो स्वरूपो की पुष्टि करते है इन्ही पर दोनो कवियों की भी सम्मति है। "कवि पुराणम् अनुशासितारम् अचिन्त्य रूपम् आदित्यवर्णम" कह कर अव्यक्त ब्रह्म से भी परे ब्रह्म को कहा गया है किन्तु सगुण स्वरूप को स्पष्ट करते हुये " प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" कहकर पत्रं पुष्पं फलं तोयं आदि बचनो के द्वारा निश्चित रूप से साकार उपासना की पुष्टि की गयी है।

इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के निर्गुण भक्ति साहित्य में उपनिषदों की विचार धारायें ग्रहण की गयी हैं। और सगुण भक्ति में गीता और पुराण की विचारधारा को प्रश्रय मिला। तथ्य यह है कि सगुण साहित्य पर पुराणों का प्रभाव कहना असंगत नहीं, क्योंकि इस साहित्य के रचयिता भागवद पुराण से अवश्य प्रभावित थे। किन्तु निर्गुण भक्त कवि के काव्यों में कवल अपनी अनुभूति के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप से सम्बन्धित जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है वह उपनिशदो में प्रतिपादित ब्रह्म के वर्णनों के निकट स्वमेव आ गयें है।

हिन्दी साहित्य में भक्ति के रूप में मध्य युग में धार्मिक विचारधारा के आगमन के कई कारण थे। देश में प्रत्येक क्षेत्र की संक्रान्ति, वैष्णव धर्म के उत्तर भारत में पुनस्थापनव प्रचार तथा अनेक शक्ति शाली धार्मिक सम्प्रदायों में हिन्दी साहित्य को भक्ति से आपूर्ण करने में अत्यन्त सहायता दी है। सामाजिक धरातल पर गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुये ईश्वर भक्ती में लीन रहना वैष्णव सम्प्रदायों की विशेषता थी। शंकराचार्य के माया वाद का विरोध करने वाले वैष्णव आचार्यो ने भक्ति का पोषण करने वाले साहित्य को अत्याधिक प्रोत्साहित किया। यह भक्ति की धारा साहित्य में चारभिन्न स्वरूप ज्ञान भक्ति सूफियों की प्रेम भक्ति, राम भक्ति ,कृष्णभक्ति की शाखाओ में निरन्तर तीन सौ वर्षो तक तीव्र वेग के साथ प्रवाह मान रही

भक्ति साहित्य की उपरोक्त प्रत्येक शाखा में अतुल साहित्य का सृजन हुआ। आध्यात्मिक एवं साहित्यिक दोनो ही दृष्टि कोणों से वह साहित्य अत्यन्त समृद्ध था।

गणना की दृष्टि से ज्ञान भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा को सबसे अधिक प्रतिभाशाली कवि के रूप में सूरदास जैसे महान भक्त एवं दार्शनिक कवि का सौभाग्य प्राप्त हुआ । रामभक्ति शाखा में सच्चे रूप से भक्ति भाव के साथ रचना करने वाले यद्यपि केवल तुलसी दासही थे। जो समाज सुधारक एवं युग द्रष्टा के रूप में उभरे तथा उनके विचार अपनी विशिष्ट दार्शनिकता को उभारते है। उन्होने अकेले ही अनेक ग्रन्थो की रचना करके अन्य शाखाओ के समक्ष इस साखा के साहित्य की स्थापना की । फिर भी रचना परिमाण दृष्टि से कृष्ण भक्ति साहित्य सबसे अधिक हैं। परन्तु दार्शनिक विचार धाराओं में दोनो का भाव साम्य प्रतीत होता है इस सम्बन्ध में दो मत नही हो सकते कि गुण, दर्शन की दृष्टि से दोनो कवियों का साहित्य अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त अद्वितीय है ।

दोनो कवियों के विचारों में मुख्य रूप से दार्शनिक मान्यताओं में विभेद था किन्तु कवियों ने शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रति अनादर का भाव भी नही प्रकट किया वरन् इसकें विपरीत वेद , उपनिषद, कुरान आदि के प्रति श्रद्धा प्रकट की । सगुण भक्ति साहित्य में पुराण व रामायण आदि ग्रन्थों का प्रत्यक्ष रूप में आधार ग्रहण किया गया किन्तु इसका य[illegible] नही कि पुराणों एवं रामायणों में वर्णित कृष्ण और राम कथा का सगुण भक्ति की शाखाओं ने पौराणिक रूप में यथा तथ्य प्रतिपादन किया वरन वास्तविकता यह है कि राम और कृष्ण के अवतार की कथाओं की केवल स्थूल रूप रेखा इन ग्रन्थों से ग्रहण की गयी जो सूर व तुलसी के ग्रन्थों में दर्शनीय हैं तथा शेष सम्पूर्ण चित्र सूर और तुलसी की काव्य प्रतिभा के द्वारा शतसः रंगो से आपूरित है।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सूर व तुलसी की दार्शनिकताओं में स्वानुभूति अथवा आत्मोपलब्धि, ज्ञान भक्ति का ही रूप है।

ज्ञान भक्ति शाखा में ब्रह्म को समस्त गुणों से परे एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहते हुये ऐसा कहा गया है कि मात्र अनुभव से ही उसे ग्रहण किया जा सकता है। जो कि योगी स्वरूप का प्रमुख सिद्धान्त होता है। सगुण भक्ति के रूप में दोनो कवियों ने अवतार की भावना पर विश्वास किया है यद्यपि ब्रह्म को निर्गुण भी बताया है। राम भक्ति शाखा में राम ही को ब्रह्म का स्वरूप मानते हुये उदात्तमर्यादा परूषोत्तम चरित्र का आख्यान किया गया है। तो कृष्ण भक्ति शाखा में कृष्ण को साक्षात् ब्रह्म मानकर उनके अलौकिक सौंदर्य से युक्त स्वरूप एवं लीलाओं को महत्व दिया गया है।

रामभक्ति शाखा में निर्गुण को मान्यता देते हुये सगुण को निर्गुण की अपेक्षा समझने में दुर्लभ घोषित किया गया है। कृष्ण भक्ति शाखा में एक निष्ठ भाव के साथ निर्गुण को उपासना की दृष्टि से अगम कहकर सगुण साकार में ही संलग्न रहने को श्रेष्ठ बताया गया है। इस प्रकार साध्य के स्वरूप के साथ साधना सम्बन्धी मार्ग तथा भक्त के लक्ष्य से सम्बन्धित अनेक प्रकार के विभेद सूर और तुलसी के काव्य साहित्य में उपलब्ध होतें है। राम भक्ति शाखा में निशदिवस दास्य भाव से सेवा तथा कृष्ण भक्ति शाखा में मनके वाँछित अवांछित प्रत्येक भाव को कृष्ण चरणों में ही समर्पित करके उनके स्वरूप व लीला में निमग्न रहना, इस प्रकार के दोनो कवियों के साहित्य में एक पृथक साधना मार्ग का प्रतिपादन लक्षित होता है।

जहा तक लक्ष्य का प्रश्न है राम भक्ति शाखा (तुलसीकाव्य) में ईश्वर के चरणों भक्ति भाव का सदैव बना रहना ही चरम काम्य है एवं कृष्ण भक्ति शाखा में मुक्ति को हेय बताकर कृष्ण के अलौकिक लीला का रसपान ही लक्ष्य है दार्शनिक एवं अध्यात्मिक दोनो धरातलों पर अनेक विन्दुओं पर कवियों सूर और तुलसी की

विचार धाराओं में भाव साम्य है। उदाहरण स्वरूप दोनों की विचारों में एक मत है कि वह ईश्वर सर्वत्र है प्रत्येक में ईश्वर भाव का दर्शनकरने वाला ही सच्चा साधक है। भक्ति का मार्ग ही श्रेष्ठतम है इष्ट के प्रति अनुराग ही उसकी सच्ची लगन का द्योतक है इस मार्ग में सुविधा यह है कि किसी भी भाव से ईश्वर की उपासना की जा सकती है। वास्तव में सच्चा भक्ति भाव वही है। जहा साधक अपने चेतन, अचेतन प्रत्येक प्रकार के भावों को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है ।

अन्ततः दोनों धाराओं का साहित्य भक्ति के उस चरम रूप का व्याख्यान करता है जहा साध्य साधक का भेद भी मिट जाता है भक्त अपने ईष्ट देव से तदाकरता की प्रतिपल की अनुभूति करता हुआ चारों ओर व्याप्त जगत में अपने निःसीम आह्लाद को अभिवर्णन करता है एवं जीन्मुक्त की स्थित प्राप्त कर लेता है।

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आध्यात्मिकता से ओत प्रोत होते हुये भी माधुर्य रस को प्रश्रय देने के परिणाम स्वरूप सूर औरतुलसी दानो के काव्य की भक्ति धाराओं का साहित्य शुष्क सैद्धान्तिक कथनो के स्थान पर सरसता से आप्लावित है।

सूर और तुलसी ने दार्शनिक विचार तत्वो को निम्न रूप में स्वीकारा है:- जगत की सृष्टि, स्थिति और नास का एक मात्र कारण ईश्वर अथवा ब्रह्मा हैं यह सर्वज्ञ सर्वशक्ति मान तथा सर्वव्यापी है । ईश्वर शुद्ध चैतन्य रूप है वह जगत का स्रष्टा होते हुये भी स्वयं समस्त जागतिक धर्मो से रहित हैं। जिस प्रकार एक मायावी पुरूष अपनी माया से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करता है। किन्तु उनसे मोहित नही होता, उनके सर्वथाअप्रभावित ही रहता है। क्यों वह उनके मिथ्या से भलीभांति परिचि त है। उसीप्रकार ईश्वर भी स्वरचित संसार तथा सांसारिक धर्मो में सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। चैतन्य तत्व ईश्वर ही जीव रूप में अवस्थित है। उपाधि के कारण ईश्वर को जिन रूप में कल्पित अवस्थिति हैं। देह, इन्द्रिय,

मन, बुद्धि आदि अनेक उपाधियों के कारण जीव अथवा सरीर रूप में कल्पना कर ली जाती है। मूलत: और अन्तत: जीव ईश्वर रूप ही है। ईश्वर रूप होने के कारण जीव भी जन्म मरण से मुक्त है शरीर रूप बन्धन का कारण अविद्या हैं बन्धन का नाश होने पर ही मोक्ष सम्भव है। मोक्ष के लिये अविद्या का नाश आवश्यकहै जिसका एक मात्र साधन ज्ञान है अविद्या के कारण ईश्वर औरजीव का जो काल्पनिक वैलक्षण्य है वह विवेक बुद्धि अर्थात ज्ञान प्राप्ति केपश्चात नष्ट हो जाता है। और जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाता है यह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्ति ही मोक्ष की अवस्था है।

इस प्रकार भक्ति साहित्य काब्य में सूर और तुलसी इस तथ्य को प्रकाशित करते हैं। कि यद्यपि ब्रह्म अपने चरम भाव में निर्गुण निर्लिप्ति अपने आप में सम्पूर्ण है किन्तु वही ब्रह्म अपनी सगुण भाव से समस्त विश्व में मणि सूत्र वत प्रत्येग कण में अन्तर्व्याप्ति है। दोनों के भाव अत्यन्त सहज है, प्रत्यक्ष हैं, किन्तु ईश्वर कृपा एवें शम्पूर्ण भावेन भक्ति के अभाव में समझने में अत्यन्त दुर्लभ हैं।

मध्य युगीन कवियों में दार्शनिक विचार धाराओं की दृष्टि से सूर और तुलसी के काव्य के तुलनात्म अध्ययन में भक्ति की उभय धारायें अपने विलक्षण, तत्वों मक रूप, समानता, परमलक्ष्यों, एवं विश्व जनीन संदेशों के कारण निश्चित रूप से अक्षुण्ण एवं सार्वभौम हैं। अत: इनका अध्ययन आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं वैचारिक प्रत्येक दृष्टि से अत्याधिक महत्वपूर्ण एवं कल्याण प्रद है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट- 1

रामभक्ति शाखा से सम्बन्धित संप्रदाय

(क) रामानन्द सम्प्रदाय

रामानन्द (मृ० सं० 1467 वि०)

रसिक सम्प्रदाय

अग्रदास (1632 वि०), मानदास
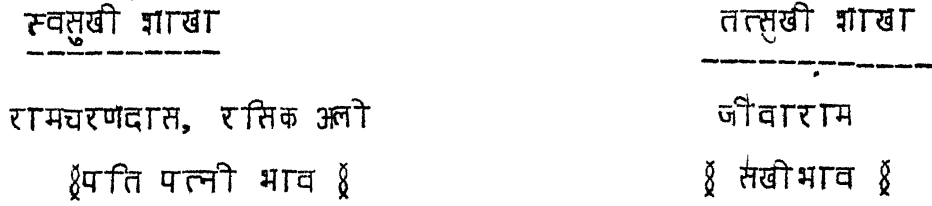
(ख) श्री सम्प्रदाय

स्थापक - श्री रामानुजाचार्यजी

प्रचारक - श्री रामानुजाचार्यजी, तुलसीदासजी

दार्शनिकसिद्धान्त — विशिष्ठा द्वैत

प्रमुख कवि — तुलसीदास,

भक्ति का भाव -- दास्य , सख्य ।

कृष्ण भक्ति शाखा से सम्बन्धित सम्प्रदाय

बल्लभ सम्प्रदाय

स्थापक - श्रीबल्लभाचार्य

प्रचारक - गोपीनाथ, विट्ठलनाथ

भक्ति का भाव - दास्य व सख्य भाव की भक्ति

प्रसिद्ध कवि - अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध आठ कवि
कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास,
कृष्णदास, गोविन्द स्वामी,
छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, नंददास ।

दार्शनिकसिद्धान्त- शुद्धाद्वैतवाद

राधाबल्लभ सम्प्रदाय

स्थापक - आचार्य हितहरिवंश

भक्तिकाभाव- गुप्त रूप की भक्ति

प्रसिद्ध कवि - हितहरिवंश, वृन्दाबनदास,
ध्रुवदास, नागरीदास, हरिराम व्यास

हरिदासी सम्प्रदाय

प्रवर्तक - हरिदास

भक्ति काभाव- अनुरागात्मिका भक्ति

प्रसिद्ध कवि - विट्ठल, विपुल, विहारिनीदास,
भगवत रसिक, ललित किशोरी

परिशिष्ट - 2

रामभक्ति - साहित्य

1- कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
﴾हिन्दी अनुबाद सहित﴿	अनुवादक, इन्द्रदेवनारायण
	गीताप्रेस, गोरखपुर
	नवम् संस्करण, सं० 2008
2- केशव कौमुदी	टीकाकार, लाला भगवानदीन
﴾दूसरा भाग ,	प्रकाशक, रामनारायण लाल,
रामचन्द्रिका उत्तरार्ध ﴿	इलाहाबाद
3- केशव कौमुदी	टीकाकार, लाला भगवानदीन
﴾प्रथम भाग	प्रकाशक, रामनारायणलाल
रामचन्द्रिका पूर्वार्ध ﴿	इलाहाबाद ।
4- गीतावली	गोस्वामी तुलसीदास
﴾हिन्दी अनुवाद सहित ﴿	अनुबाद कर्ता-/मुनिलाल
	गीताप्रेस, गोरखपुर
5- तुलसी ग्रन्थावली	काशीनागरी प्रचारिणी सभा
6- दोहावली	गोस्वामी तुलसीदास
	अनुबादक हनुमानप्रसाद पोद्दार
	गीता प्रेस, गोरखपुर
7- रामचरित मानस	डा० माता प्रसाद गुप्त
	हिन्दुस्तानी एकेडेमी
	इलाहाबाद ।
8- विनय पत्रिका	गोस्वामी तुलसीदास
	संपादक, श्री वियोगी हरि
9- विनय पत्रिका	गोस्वामी तुलसीदास
﴾सरल भावार्थ सहित ﴿	हनुमान प्रसाद पोद्दार
	गीता प्रेस गोरख-पुर

कृष्ण - भक्ति साहित्य

1- सूरसागर (पहला खंड) — सम्पादक, श्री नंददुलारे बाजपेयी, प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

2- सूरसागर (दूसरा खंड) — सम्पादक, श्री नंददुलारे बाजपेयी, प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वितीय संस्करण,

3- सेरसागर सार — संकलन कर्ता, डा० धीरेन्द्रवर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण

4- सूरदास मदनमोहन (जीवनी और पदावली) — प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण

5- श्री कृष्ण गीतावली (सरलभावार्थ सहित) — गोस्वामी तुलसीदास, अनुबादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर

6- अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय (द्वितीय भाग) — डा० दीनदयालगुप्त

7- अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) — डा० दीनदयाल गुप्त

8- राधाबल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य — डा० विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

अन्य सहायक ग्रन्थ

1- काव्य में उदात्त तत्व	डा० नगेन्द्र
22 भारतीय तत्व चिन्तन	जगदीश चन्द्र जैन
3-मध्यकालीन धर्म साधना	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
4- रामकथा	डा० कामिल बुल्के हिन्दी परिषद प्रयाग. विश्वविद्यालय
5- राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना	भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र, माधव बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना
6"- भक्ति सिद्धान्त	डा० आशा गुप्त
7- सूरदर्शन	डा० कृष्णलाल हंस
8- अद्वैत वेदान्त-सम्प्रदाय में ईश्वर	डा० प्रमिता अग्रवाल
9- तुलसी	डा० उदयभानु सिंह राधाकृष्ण मूल्यांकन माला
10- सूरदास	सम्पादक - हरबंसलाल शर्मा राधाकृष्ण मूल्यांकन माला
11- रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय
12- सूर साहित्य	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर
13- सूरदास	डा० ब्रजेश्वर शर्मा हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय
14- हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमारवर्मा रामनारायण लाल , प्रयाग

15- हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारणी सभा, काशी
16- हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भर नाथ उपाध्याय साहित्य रत्न भंडार आगरा
17- हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० नगेन्द्र
18- तुलसी दर्शन	नारायण दास बाजपेयी
19- मध्ययुगीन सगुण और निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	डा० आशा गुप्त
20- गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल
21- भारतीय दर्शन	श्री सी.डी. शर्मा
22- तुलसी दर्शन	डा० बल्देवप्रसादमिश्र
23- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्तइतिहास	ऐन.सी.आर.टी.
24- साहित्य लहरी	डा० विजयेन्द्र स्नातक
25- सूरदास	डा० रामचन्द्र शुक्ल
26- सूरसाहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
27- राधा बल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त औरसाहित्य	विजयेन्द्र स्नातक नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली प्रथ संसकरण

==